सन्त काव्य
परम्परा व जीवन दर्शन

(Saint Poetry: Tradition and Philosophy of Life)

प्रतीक यादव

संत काव्य : परंपरा व जीवन दर्शन

सन्त काव्य

परम्परा व जीवन दर्शन

(Saint Poetry: Tradition and Philosophy of Life)

प्रतीक यादव

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5585-4

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

संत स्वयं को केवल समाज के लिए नहीं, बल्कि संपूर्ण विश्व के लिए, केवल मानवता के लिए ही नहीं, अपितु संपूर्ण प्राणियों के लिए समर्पित कर सबके विकास को गति देते हैं। जैसे लोकतंत्र प्रतिनिधि तंत्र है, ठीक वैसे ही संतों का समाज भी ईश्वर का प्रतिनिधि तंत्र है। उसके सभी उद्देश्यों, इच्छाओं, लीलाओं व क्रियाओं को संत जन समाज कल्याण के लिए प्रयुक्त करते हैं।

लोकोपकारी संत के लिए यह आवश्यक नहीं कि यह शास्त्रज्ञ तथा भाषाविद् हो। उसका लोकहितकर कार्य ही उसके संतत्त्व का मानदंड होता है। हिंदी साहित्यकारों में जो 'निर्गुणिए संत' हुए उनमें अधिकांश अनपढ़ किंवा अल्पशिक्षित ही थे। शास्त्रीय ज्ञान का आधार न होने के कारण ऐसे लोग अपने अनुभव की ही बातें कहने को बाध्य थे। अतः इनके सीमित अनुभव में बहुत सी ऐसी बातें हो सकती हैं, जो शास्त्रों के प्रतिकूल ठहरें। अल्पशिक्षित होने के कारण इन संतों ने विषय को ही महत्त्व दिया है, भाषा को नहीं। इनकी भाषा प्रायः अनगढ़ और पंचरंगी हो गई है। काव्य में भावों की प्रधानता को यदि महत्त्व दिया जाए तो सच्ची और खरी अनुभूतियों की सहज एवं साधारणीकृत अभिव्यक्ति के कारण इन संतों में कइयों की बहुतेरी रचनाएँ उत्तम कोटि के काव्य में स्थान पाने की अधिकारिणी मानी जा सकती हैं। परंपरापोषित प्रत्येक दान का आँख मूँदकर वे समर्थन नहीं करते। इनके चिंतन का आकार सर्वमानववाद है। ये मानव मानव में किसी प्रकार का अंतर नहीं मानते। इनका

कहना है कि कोई भी व्यक्ति अपने कुलविशेष के कारण किसी प्रकार वैशिष्ट्य लिए हुए उत्पन्न नहीं होता। इनकी दृष्टि में वैशिष्ट्य दो बातों को लेकर मानना चाहिए– अभिमानत्यागपूर्वक परोपकार या लोकसेवा तथा ईश्वरभक्ति। इस प्रकार स्वतंत्र चिंतन के क्षेत्र में इन संतों ने एक प्रकार की वैचारिक क्रांति को जन्म दिया।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**संत साहित्य**	**1**
	इतिहास	4
	साहित्य	7
	कबीर के राम और तुलसी के राम	10
2.	**कबीर**	**12**
	जीवन	12
	भाषा	13
	कृतियां	13
	धर्म के प्रति	14
	कबीर के राम	15
	जन्म	18
	समकालीन सामाजिक परिस्थिति	19
	सुमिरन	23
	कबीर साहित्य: कबीर चिंतन	37
	कबीर के काव्य की प्रासंगिकता	42
	कबीर–काव्य– मूल्य और प्रासंगिकता	46

कबीर काव्य द्वारा स्थापित प्रमुख मूल्य 47
कबीर-काव्य द्वारा स्थापित मूल्यों की आधुनिक संन्दर्भों में प्रासंगिकता 53
3. रविदास 55
जीवन परिचय 56
जन्म 56
व्यक्तित्त्व 57
वचनबद्धता 57
शिक्षा 57
सत्संग 58
सत्य 59
साधना 59
धर्म 59
भक्ति 60
समाज पर प्रभाव 60
रचनाएँ 60
महत्त्व 61
स्वभाव 62
सतगुरु रविदास जी के पद 64
दोहे 64
सामाजिक क्रांति के अग्रदूत संत रैदास 64
4. संत काव्य और सूफी काव्य 76
संत काव्य परंपरा 76
संत काव्य की प्रवृत्तियाँ 78
निर्गुण ब्रह्म में विश्वास 79
सामाजिक चेतना 79
सद्गुरु को महत्त्व 80
रहस्यवाद 80
प्रेमलक्षणा भक्ति 81
अभिव्यंजनात्मक प्रवृत्ति 81
सूफी का तात्पर्य और सूफी काव्य परंपरा 83

सूफी काव्य की प्रवृत्तियाँ 85
कथानक रुढ़ियों का प्रयोग 88
5. संत तुकाराम 90
जीवन परिचय 90
विपत्तियाँ 91
सुखों से विरक्ति 91
माता-पिता से वियोग 91
अभंग की रचना 93
अवस्थाएँ 93
तुकाराम पर फिल्म 97
तुकाराम की मूल शिक्षाएँ 98
6. ज्ञानेश्वर 100
कृतियाँ 102
7. नामदेव 104
नामदेव का कालनिर्णय 105
जीवनचरित्र 106
नामदेव के मत 107
परलोक गमन 107
साहित्यिक देन 108
8. शंकरदेव 110
जीवनचरित 110
रचनाएँ 111
9. तुलसीदास 114
भगवान श्री राम जी से भेंट 122
संस्कृत में पद्य-रचना 122
रामचरितमानस की रचना 123
मृत्यु 124
तुलसी-स्तवन 125
कुछ ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण 127
जानकी-मंगल 128
तुलसीदास के काव्य में समन्वय भावना 130

1

संत साहित्य

भारतीय के अंतर्गत भारत के प्राचीनकाल से आज तक के सभी संतों का नाम आता है । एक संत एक मानव 'आत्म, सत्य, वास्तविकता' के अपने या अपने ज्ञान के लिए और एक 'सच-आदर्श' के रूप में प्रतिष्ठित किया जा रहा है। ईश्वर ने अपनी बातों को लोगों तक समझाने के लिए, उन्हें सही रास्ते पर लाने के लिए, व्यक्ति का विकास कैसे हो, उसके चिंतन, शरीर, धन, ज्ञान का विकास कैसे हो, उसके लिए एक प्रतिनिधि परंपरा का प्रारंभ किया, यही संत परंपरा है।

जो ईश्वर की भावनाएं होती हैं, जो ईश्वर की स्थापनाएं होती हैं, जो ईश्वर के सारे उद्देश्य होते हैं, ईश्वर जिन भावनाओं से जुड़ा होता है, जिन गुणों से जुड़ा होता है, जिन अच्छाइयों से जुड़ा होता है, वो सब संतों में होती हैं। संत के जीवन में समाज भी यही खोजता है कि संत में लोभ नहीं हो, कामना-हीनता हो।

1. समाज संत में यह देखता है कि उसमें श्रेष्ठता है या नहीं, संयम है या नहीं। संत में दूसरों की भलाई करने की भावना है या नहीं। लोग संत में सभी गुण खोजते हैं। संतों को परखा जाता है। लोग यह नहीं देखते कि संत को गाड़ी चलाना आता है या नहीं, कम्प्यूटर चलाना आता है या नहीं, संत को प्रबंधन चलाना आता है या नहीं। संत हैं तो संतत्त्व होना चाहिए।

जो गुण, जो भाव, जो उत्कर्ष, जो ग्रहणशीलता, जो विशिष्टता ईश्वर में पाई जाती है, उन सभी भावों को लोग लोकतंत्र में खोजते हैं और संतों में भी

खोजते हैं। लोग जब किसी में इन गुणों को नहीं पाते हैं, तब उसे ढोंगी कहते हैं। ईश्वर ने अपने प्रतिनिधि के रूप में संतों को भेजा है। उसके सभी उद्देश्यों, सभी इच्छाओं, सभी लीलाओं, क्रियाओं, सभी व्यवस्थाओं को संत जन समाज कल्याण के लिए प्रयुक्त करते हैं।

2. संत स्वयं को केवल समाज के लिए नहीं, बल्कि संपूर्ण विश्व के लिए, केवल मानवता के लिए ही नहीं, अपितु संपूर्ण प्राणियों के लिए समर्पित कर सबके विकास को गति देते हैं। जैसे लोकतंत्र प्रतिनिधि तंत्र है, ठीक वैसे ही संतों का समाज भी ईश्वर का प्रतिनिधि तंत्र है। उसके सभी उद्देश्यों, इच्छाओं, लीलाओं व क्रियाओं को संत जन समाज कल्याण के लिए प्रयुक्त करते हैं।

संसार का जनक संसार में आकार, प्रकार, स्वभाव की अथाह विविधता है। जहां 84 लाख योनियों की चर्चा की जाती है। 84 लाख योनियों के संपूर्ण निर्माण का जो श्रेय है, सनातन धर्म के अनुसार, सृष्टि जहां भी हो, जैसी भी हो, इस संपूर्ण सृष्टि का निर्माता ईश्वर ही है।

इतनी बड़ी सृष्टि का संपादन कोई मनुष्य नहीं कर सकता। न समुद्र का, न हिमालय का, न आकाश का, न पृथ्वी का, न वायु का, न ग्रह-नक्षत्र का। इसलिए यह माना गया है और इसको बार-बार वेद, पुराण व स्मृतियों में दोहराया गया है कि संसार को ईश्वर ही बनाता है और पालन करता है, वही उसका पोषण करता है। उसको सुंदर बनाता है, उपयोगी बनाता है, सुदृढ़ बनाता है और जब कभी उसे लगता है तो उस चीज को अपने में समाहित कर लेता है, इसी को संहार कहते हैं।

ईश्वर अपनी तरह से सुधार करता है। जैसे राजशाही प्रथा की जो विकृतियां थीं, उनमें से बहुत सी विकृतियों से समाज को छुटकारा मिला। लोकतंत्र में बहुत सी अच्छाइयां हैं, जनता अपना प्रतिनिधि चुनती है। वैसे ही संसार को बनाकर ईश्वर ने वेदों, शास्त्रों के रूप में नियम-कानून भी बनाए कि जीवन में कैसे चलना है, कैसे रहना है, किस तरह से विकास होगा, किस तरह से व्यक्ति सही रहेगा। संपूर्ण नियम-कानून उसने बनाए और उसी आधार पर संसार को अच्छाई की ओर ले जाने का मार्गदर्शन किया।

3. संत का उद्देश्य क्या हो? संसार में साधु-संतों का बड़ा काम है। संतों ने मानव समाज को ईश्वरीय ज्ञान से जोड़ा, संस्कारों से जोड़ा, जीवन जीने की कला से जोड़ा। विकास की तमाम क्रियाओं से जोड़ा और सब कुछ इतना अच्छा किया कि पूरा संसार उनकी ओर देखता है। ऐसे बड़े कामों के लिए, लोगों की

अपेक्षाओं पर खरा उतरने के लिए संत का बड़ा अच्छा और वैसा ही सही स्वरूप होना चाहिए, जैसे ईश्वर के किसी प्रतिनिधि का होना चाहिए।

4. आज हमें यह जानना होगा कि संत का सही स्वरूप क्या होता है। जब वह अपने ज्ञान द्वारा ईश्वर को समझ लेता है, अपनी भक्ति द्वारा ईश्वर को प्राप्त कर लेता है, अपनी शरणागति द्वारा ईश्वर को प्राप्त कर लेता है और उसके गुणों से युक्त हो जाता है, जब उसी तरह से अपने संपूर्ण जीवन को संसार का जीवन बना लेता है, जब अपनी संपूर्ण इच्छाओं को संसार की इच्छाओं में डालकर विकास के लिए प्रयास करता है, तमाम उपयोगी विविधताओं में गुणों को डालकर उनके विकास के लिए प्रयास करता है, तब उसको सही संत का दर्जा प्राप्त होता है।

तभी वह संसार में संत के रूप में सार्थक होता है। उसका संबंध केवल वस्त्र-आभूषण से नहीं है, किसी एक पंथ या संप्रदाय से नहीं है, बाहरी आडंबरों से नहीं है। वास्तव में आंतरिक उत्कर्ष ही संतत्त्व का लक्षण है। यह उत्कर्ष उसकी क्रियाओं में प्रकट होता है, यह संत की सबसे बड़ी पहचान है। संत का कर्म कभी स्वार्थ के अनुरूप नहीं होता, हमेशा परमार्थ के अनुरूप होता है।

5. आज लोगों को भी यह देखना होगा कि संत का केंद्रीकरण कहां है? कहां के लिए वह अपने जीवन को लगा रहा है, किस काम के लिए स्वयं को थका रहा है, किस उद्देश्य के लिए जीवन व्यतीत कर रहा है, उसके जीवन का परम लक्ष्य क्या है। निसंदेह, संत का उद्देश्य सम्पूर्ण संसार के लिए होना चाहिए। सभी लोगों को महा-आनंद मिल जाए, सभी लोग सुखी हो जाएं, यदि कोई ऐसा चाहता है और इसके लिए प्रयास करता है तो वैदिक सनातन धर्म में उसे संत कहा गया है। केवल सनातन धर्म में ही नहीं, दूसरी परंपराओं में भी महान संत हुए हैं। मुस्लिमों में भी एक धारा सूफियों की रही, जिन्होंने अपना जीवन समाज के हित में बिताया।

सूची में सभी प्राचीन ऋषियों,मुनियों, स्वामी महावीर, गौतम बुद्ध, मध्यकालीन सभी संत, सिख के सभी गुरुओं का समावेश है ।

संत साहित्य का अर्थ है- वह धार्मिक साहित्य जो निर्गुणिए भक्तों द्वारा रचा जाए। यह आवश्यक नहीं कि सन्त उसे ही कहा जाए जो निर्गुण उपासक हो। इसके अंतर्गत लोकमंगलविधायी सभी सगुण-निर्गुण आ जाते हैं, किंतु आधुनिक चिंतन ने निर्गुणिए भक्तों को ही 'संत' की अभिधा दे दी और अब यह शब्द उसी वर्ग में चल पड़ा है।

'संत' शब्द संस्कृत 'सत' के प्रथमा का बहुवचनान्त रूप है, जिसका अर्थ होता है सज्जन और धार्मिक व्यक्ति, हिन्दी में साधु/सुधारक के लिए यह शब्द व्यवहार में आया। कबीर, सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास आदि पुराने भक्तों ने इस शब्द का व्यवहार साधु और परोपकारी, पुरुष के अर्थ में बहुलांशः किया है और उसके लक्षण भी दिए हैं।

लोकोपकारी संत के लिए यह आवश्यक नहीं कि यह शास्त्रज्ञ तथा भाषाविद् हो। उसका लोकहितकर कार्य ही उसके संतत्त्व का मानदंड होता है। हिंदी साहित्यकारों में जो 'निर्गुणिए संत' हुए उनमें अधिकांश अनपढ़ किंवा अल्पशिक्षित ही थे। शास्त्रीय ज्ञान का आधार न होने के कारण ऐसे लोग अपने अनुभव की ही बातें कहने को बाध्य थे। अतः इनके सीमित अनुभव में बहुत सी ऐसी बातें हो सकती हैं, जो शास्त्रों के प्रतिकूल ठहरें। अल्पशिक्षित होने के कारण इन संतों ने विषय को ही महत्त्व दिया है, भाषा को नहीं। इनकी भाषा प्रायः अनगढ़ और पंचरंगी हो गई है। काव्य में भावों की प्रधानता को यदि महत्त्व दिया जाए तो सच्ची और खरी अनुभूतियों की सहज एवं साधारणोकृत अभिव्यक्ति के कारण इन संतों में कइयों की बहुतेरी रचनाएँ उत्तम कोटि के काव्य में स्थान पाने की अधिकारिणी मानी जा सकती है। परंपरापोषित प्रत्येक दान का आँख मूँदकर वे समर्थन नहीं करते। इनके चिंतन का आकार सर्वमानववाद है। ये मानव मानव में किसी प्रकार का अंतर नहीं मानते। इनका कहना है कि कोई भी व्यक्ति अपने कुलविशेष के कारण किसी प्रकार वैशिष्ट्य लिए हुए उत्पन्न नहीं होता। इनकी दृष्टि में वैशिष्ट्य दो बातों को लेकर मानना चाहिए– अभिमानत्यागपूर्वक परोपकार या लोकसेवा तथा ईश्वरभक्ति। इस प्रकार स्वतंत्र चिंतन के क्षेत्र में इन संतों ने एक प्रकार की वैचारिक क्रांति को जन्म दिया।

इतिहास

निर्गुणिए संतों की वाणी मानवकल्याण की दृष्टि से जिस प्रकार के धार्मिक विचारों एवं अनुभूतियों का प्रकाशन करती हैं वैसे विचारों एवं अनुभतियों को पुरानी हिंदी में बहुत पहले से स्थान मिलने लगा था। विक्रम की नवीं शताब्दी में बौद्ध सिद्धों ने जो रचनाएँ प्रस्तुत कीं उनमें वज्रयान तथा सहजयान संबंधी सांप्रदायिक विचारों एवं साधनाओं के उपन्यसन के साथ-साथ अन्य संप्रदाय के विचारों का प्रत्याख्यान बराबर मिलता है। उसके अनंतर नाथपंथी

योगियों तथा जैन मुनियों की जो बानियाँ मिलती हैं, उनमें भी यही भावना काम करती दिखाई पड़ती है। बौद्धों में परमात्मा या ईश्वर को स्थान प्राप्त न था, नाथपंथियों ने अपने वचनों में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की। इन सभी रचनाओं में नीति को प्रमुख स्थान प्राप्त है। ये जगह-जगह लोक को उपदेश देते हुए दिखाई पड़ते हैं। पुरानी हिंदी के बाद जब हिंदी का विकास हुआ तब उस पर भी पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव अनिवार्यत: पड़ा। इसीलिए हिंदी के आदिकाल में दोहों में जो रचनाएँ मिलती हैं उनमें से अधिकांश उपदेशपरक एवं नीतिपरक हैं। उन दोहों में कतिपय ऐसे भी है जिनमें काव्य की आत्मा झलकती सी दिखाई पड़ जाती है। किंतु इतने से ही उसे काव्य नहीं कहा जा सकता।

पंद्रहवीं शती विक्रमी के उत्तरार्ध से संतपरंपरा का उद्‌भव मानना चाहिए। इन संतों की बानियों में विचारस्वातंत्र्य का स्वर प्रमुख रहा वैष्णव धर्म के प्रधान आचार्य रामानुज, निंबार्क तथा मध्व विक्रम की बारहवीं एवं तेरहवीं शती में हुए। इनके माध्यम से भक्ति की एक वेगवती धारा का उद्‌भव हुआ। इन आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी पर जो भाष्य प्रस्तुत किए, भक्ति के विकास में उनका प्रमुख योग है। गोरखनाथ से चमत्कारप्रधान योगमार्ग के प्रचार से भक्ति के मार्ग में कुछ बाधा अवश्य उपस्थित हुई थी, जिसकी ओर गोस्वामी तुलसीदास ने संकेत भी किया है–

गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग।

तथापि वह उत्तरोत्तर विकसित होती गई। उसी के परिणामस्वरूप उत्कल में संत जयदेव, महाराष्ट्र में वारकरी संप्रदाय के प्रसिद्ध संत ख्ञ्नामदेव तथा ज्ञानेदव, पश्चिम में संत सधना तथा बेनी और कश्मीर में संत लालदेव का उद्‌भव हुआ। इन संतों के बाद प्रसिद्ध संत रामानंद का प्रादुर्भाव हुआ, जिनकी शिक्षाओं का जनसमाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। यह इतिहाससिद्ध सत्य है कि जब किसी विकसित विचारधारा का प्रवाह अवरुद्ध करके एक दूसरी विचारधारा का समर्थन एवं प्रचार किया जाता है तब उसके सिद्धांतों के युक्तियुक्त खंडन के साथ उसकी कतिपय लोकप्रिय एवं लोकोपयोगी विशेषताओं को आत्मीय भी बना लिया जाता है। जगद्‌गुरु शंकर, राघवानंद, रामानुज, रामानंद आदि सबकी दृष्टि यही रही है। श्रीसंप्रदाय पर नाथपंथ का प्रभाव पड़ चुका था, वह उदारतावादी हो गया था। व्यापक लोकदर्शन के फलस्वरूप स्वामी रामानंद की दृष्टि और भी उदार हो गई थी। इसीलिए उनके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शिष्यों में जुलाहे, रैदास, नाई, डोम आदि सभी का समावेश देखा जाता है। इस काल में

जो सत्यान्वेषी भक्त या साधु हुए उन्होंने सत् के ग्रहणपूर्वक असत् पर निर्मम प्रहार भी किए। प्राचीन काल के धर्म की जो प्रतीक प्रधान पद्धति चली आ रही थी, सामान्य जनता को, उसका बोध न होने के कारण, कबीर जैसे संतों के व्यंग्यप्रधान प्रत्यक्षपरक वाग्बाण आकर्षक प्रतीत हुए। इन संतों में बहुतों ने अपने सत्कर्तव्य की इतिश्री अपने नाम से एक नया 'पंथ' निकालने में समझी। उनकी सामूहिक मानवतावादी दृष्टि संकीर्णता के घेरे में जा पड़ी। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक नाना पंथ एक के बाद एक अस्तित्त्व में आते गए। सिक्खों के आदि युग नानकदेव ने (सं. 1526-95) नानकपंथ, दादू दयाल ने (1610 1660) दादूपंथ, कबीरदास ने कबीरपंथ, बावरी ने बावरीपंथ, हरिदास (16 वीं शती उत्तरार्ध) ने निरंजनी संप्रदाय और मलूकदास ने मलूकपंथ को जन्म दिया। आगे चलकर बाबालालजी संप्रदाय, धानी संप्रदाय, साथ संप्रदाय, धरनीश्वरी संप्रदाय, दरियादासी संप्रदाय, दरियापंथ, शिवनारायणी संप्रदाय, गरीबपंथ, रामसनेही संप्रदाय आदि नाना प्रकार के पंथों एवं संप्रदायों के निर्माण का श्रेय उन संतों को है जिन्होंने सत्यदर्शन एवं लोकोपकार का व्रत ले रखा था और बाद में संकीर्णता को गले लगाया। जो संत निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हुए राम, कृष्ण आदि को साधारण मनुष्य के रूप में देखने के आग्रही थे वे स्वयं ही अपने आपको राम, कृष्ण की भाँति पुजाने लगे। संप्रदायपोषकों ने अपने आदि गुरु को ईश्वर या परमात्मा सिद्ध करने के लिए नाना प्रकार की कल्पित आख्यायिकाएँ गढ़ डालीं। यही कारण है कि उन सभी निर्गुणिए संतों के वृत्त अपने पंथ या संप्रदाय की पिटारी में ही बंद होकर रह गए।

इधर साहित्य में जब से शोधकार्य ने बल पाया है तब से साहित्यग्रंथों के कतिपय पृष्ठों में उनकी चर्चा हो जाती है, जनसामान्य से उनका कोई संपर्क नहीं रह गया है। इन संप्रदायों में दो एक संप्रदाय ऐसे भी देख पड़े, जिन्होंने अपने जीवन में भक्ति को गौण किंतु कर्म को प्रधानता दी। सत्तनामी संप्रदायवालों ने मुगल सम्राट् औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह का झंडा ऊपर लहराया था (सवत 1729 विक्रमी)। नानकपंथ के नवें गुरु श्री गोविंद सिंह ने अपने संप्रदाय को सेना के रूप में परिणम कर दिया था। इसी संतपरंपरा में आगे चलकर राधास्वामी संप्रदाय (19वीं शती) अस्तित्त्व में आया। यह संतपरंपरा राजा राममोहन राय (ब्रह्मसमाज, 1835-90), स्वामी दयानन्द सरस्वती (संवत् 1881-1941 विक्रमी, आर्यसमाज), स्वामी रामतीर्थ (सं. 1930-63), तक चली आई है। महात्मा गांधी को इस परंपरा की अंतिम कड़ी कहा जा सकता है।

साहित्य

जैसा पहले कहा जा चुका है, इन संप्रदायों और पंथों के बहुसंख्यक आदि गुरु अशिक्षित ही थे। अत: वे मौखिक रूप में अपने विचारों और भावों को प्रकट किया करते थे। शिष्यमंडल उन्हें याद कर लिया करता था। आगे चलकर उन्हीं उपदेशात्मक कथनों को शिष्यों द्वारा लिपिबद्ध कर लिया गया और वही उनका धर्मग्रंथ हो गया। इन कथनों एवं वचनों के संग्रह में कहीं कहीं उत्तम और सामान्य काव्य की बानगी भी मिल जाती है। अत: इन पद्यकार संतों में कतिपय ऐसे संत भी हैं जो मुख्यत: संत होते हुए भी गौणत: कवि भी हैं। इसमें कइयों ने अपनी शास्त्रीय शिक्षा के अभाव को बहुश्रुतता द्वारा दूर करने का प्रयास अवश्य किया है, यह भी दर्शन के क्षेत्र में, साहित्य के क्षेत्र में नहीं। इनमें बहुतों का साहित्य के स्वरूप से परिचय तक नहीं था किंतु उनकी अनुभति की तीव्रता किसी भी भावुक के चित्त को प्राकृष्ट कर सती है। ऐसे संतों में कबीर का स्थान प्रमुख है। हिंदू तथा मुस्लिम दोनों की धार्मिक परंपराओं एवं रूढ़िगत कतिपय मान्यताओं पर, बिना दूरदर्शितापूर्वक विचार कि, उन्होंने जो व्यंग्यात्मक प्रहार किए और अपने को सभी ऋषियों मुनियों से आचारवान् एवं सच्चरित्र घोषित किया, उसके प्रभाव से समाज का निम्नवर्ग अप्रभावित न रह सका एवं आधुनिक विदेशी सभ्यता में दीक्षित एवं भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति से परांमुख कतिपय जनों को उसमें सच्ची मानवता का संदेश सुनने को मिला। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ब्रह्मसमाजी विचारों से मेल खाने के कारण कबीर की बानियों का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया और उससे आजीवन प्रभावित भी रहे। कबीर की रचना मुख्यत: साखियों और पदों में हुई हैं। इनमें उनकी स्वानुभूतियाँ तीव्र रूप में सामाने आई हैं। संतपरंपरा में हिंदी के पहले संतसाहित्यभ्रष्टा जयदेव हैं। ये गीतगोविंदकार जयदेव से भिन्न हैं। सधना, त्रिलोचन, नामदेव, सेन भाई, रैदास, पीपा, धन्ना, नानकदेव, अमरदास, धर्मदास, दादूदयाल, बषना जी, बावरी साहिबा, गरीबदास, सुंदरदास, दरियादास, दरिया साहब, सहजो बाई आदि इस परंपरा के प्रमुख संत हैं।

कबीर

भक्तिकाल की संतकाव्य परंपरा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम कबीर का है। कबीर ने सभी धर्मों की आलोचना करते हुए धर्मेतर अध्यात्म को काव्य जगत

में प्रतिष्ठित किया। कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक होने के कारण ही स्वरूप भेद को विभिन्न स्तरों पर नकारते दिखते हैं।

निर्गुण का स्वरूप

कबीर के निर्गुण ब्रह्म पर भारतीय अद्वैतवाद और इस्लामी एकेश्वरवाद का प्रभाव माना जा सकता है। ब्रह्म एक ही है और भक्त से पृथक उसका अस्तित्त्व नहीं। कबीर स्पष्ट करते हैं - श्मुसलमान का एक खुदाई, कबीर का स्वामी रह्या समाई'। निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन कबीर इन शब्दों में करते हैं -

जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप सरूप।
पुहुप बास ते पातरा, ऐसा तत्त अनूप॥

निर्गुण ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान है तथापि वह अगोचर एवं अकथनीय है। कबीर ने उसे अनंत सूर्य के तेज की भाँति माना है -

पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं देख्या ही परवान॥

कबीर ने अपने निर्गुण ब्रह्म को विभिन्न नामों से पुकारा है। कबीर तात्विक तौर पर निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं करते है। वे तो कहते हैं कि 'निर्गुण की सेवा करो, सगुण का करो ध्यान'। उनका 'नाम स्मरण' भक्ति का आलंबन मात्र है। निर्गुण ब्रह्म 'सर्वनियन्ता' किन्तु 'अजन्मा' है। कबीर राम नाम का मरम समझने पर जोर देते हैं तथा अवतारवाद का खंडन करते हैं -

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना,
रामनाम का मरम है आना॥

निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन धर्म के नाम पर अलगाव व घृणा का नीति का निषेध करने के निमित्त ही हुआ। कबीर के लिए भक्ति मानव जीवन को कर्म-प्रवृत्त कर सुखी, सहज व प्रेमसिक्त करने का उच्चतम मूल्य है। निर्गुण ब्रह्म का सत्व ईश्वर के साथ ही मानव-मात्र की एकता का प्रतिपादक है -

हमरे राम रहीम करीमा केसौ अलह राम सति सोई,
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै और न दूजा कोई॥

कबीर की काव्य-कला (कविताई)

कविताई के संबंध में कबीर का कहना है -

तुम जिन जानहु गीत यह, यह निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समुझाइया आतम साधन सार रे॥

कबीर की कविताई 'अनभै साँचा' के साथ आतम साधन सार' के रूप में 'अनभै साँचा' को हमारे सामने रखती है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के कवित्व को 'घलुए की वस्तु' माना है। रामचंद्र शुक्ल को तो उनकी बातें चिढ़ाने वाली अधिक लगीं, हालांकि वे यह भी मानते हैं कि 'प्रतिभा उनमें प्रखर थी इसमें संदेह नहीं'। कबीर की कविताओं का भावोन्मेष अद्‌भुत है तभी तो वह सभी विभाजनकारी ताकतों पर समान चोट करती हैं। भक्तिकाल में जायसी को छोड़कर किसी भी भक्त ने स्वयं को प्राथमिक रूप से कवि नहीं स्वीकारा है। कबीर भी 'निज ब्रह्म विचार' को 'गीत' पर वरीयता देते हैं। बावजूद इसके कबीर के विचारों में अनुभूति की इतनी गहनता है कि उन्हें कवि के अलावा कहा भी जाय तो क्या? उनके कवित्व को 'घलुए की वस्तु' मानने वाले हजारी प्रसाद द्विवेदी भी स्पष्ट करते हैं कि – 'कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करने की सभी चेष्टाएं व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्व के आकर्षण को सहृदय समालोचक संभाल नहीं पाता और रीझकर कबीर को कवि कहने में संतोष पाता है।'

कबीर अपने अनुभव जगत में 'सार-सार को गहि रहे, थोथा देई उड़ाय' के हिमायती हैं। कबीर की रचना-प्रक्रिया का केंद्रीय तत्त्व 'प्रेम' है, जो भाव और भाषा का सर्जनात्मक आधार भी है–

पिंजर प्रेम प्रकास्या अंतरि भया उजास।
मुख कस्तूरी महमही बानी फूटी बास॥

प्रेम तत्त्व ने ही 'घर फूंक तमाशा देखने' की मस्ती वाले अक्खड़ कबीर की वाणी में कोमलता, सरसता एवं ऐंद्रिकता को घोल दिया है। यदि छंद, रस, अलंकार, बिंब व प्रतीक विधान ही काव्य के नियामक तत्त्व हैं तब भी कबीर एक श्रेष्ठ गायक ही ठहरेंगे। उलटबाँसियों के माध्यम से कबीर अपनी अभिव्यक्ति के लिए नए मिथकों का निर्माण करते हैं, जहाँ ज्ञानियों को उन्हीं भाषा में जवाब दिया जा सके। ज्ञान और शास्त्र के वर्चस्व वाले समाज में भी कबीर को –

'ऐसा कोई न मिले जासूँ कहूँ निसंक।
जासूँ हिरदै की कहूँ सो फिरी मारै डंक॥'

कबीर की कविता अपने समय के सांस्कृतिक पूर्वग्रहों और वर्चस्व को जितने गहरे ढंग से, जितनी मानवीय आकुलता से प्रश्नबिद्ध करती है, वह वर्चस्वशील काव्यशास्त्र में उतनी ही तिरस्कृत किंतु कालांतर में उतनी ही स्वीकृत होती चली जाती है।

कबीर: गुरु महात्म्य

निर्गुण कवियों की भाँति कबीर भी गुरू महिमा का बखान करते हैं। कबीर मानते हैं कि – 'गुरु गोबिंद तो एक हैं, दूजा यहु आकार'। वे गुरू को तो ईश्वर से महत्तर स्थान देते हैं क्योंकि – श्हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर'। 'कागद लेखी' ज्ञान के इस संसार में सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा सच्चा गुरु ही दे सकता है। कबीर कहते हैं –

पीछे लागा जाइ था, लोक बेद के साथ।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि॥

कबीर के समय में वेद विदित कर्मकांडों से परिचित लोक-व्यवहार में अंधविश्वासों एवं पाखंड का बोलबाला था। ऐसे समय में ज्ञानियों एवं योगियों की लहर सी आ गयी थी जिसके ज्ञान का आधार मिथ्या वाह्याचार था। 'भेष रंगाए जोगी' और 'मूड़ मुड़ाए संयासी' कहीं भी चिमटा गाड़कर वेद-शास्त्र की धज्जियाँ उड़ाते तत्त्व ज्ञान का प्रसार कर रहे थे। कबीर ने ऐसे गुरुओं और उनके चेलों की बुरी गत बताई –

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़ंत॥

कबीर सदैव 'सतगुरु' को याद करते दिखाई पड़ते हैं। 'सतगुरु सवाँ न को सगा' कहकर कबीर उसे ऐसे रूप में स्वीकार करते हैं, जो मनुष्य के समस्त सदगुणों को दीप्त कर उसे ईश्वरत्व तक उठा देता है –

बलिहारी गुरु आपणैं, द्यौहाड़ी कै बार।
जिनि मानिष तै देवता, करत न लागी बार॥

संत कवियों ने प्राय: नाम लिए बिना ही गुरु का स्मरण किया है। हालांकि कबीर ने अपने गुरु के नाम का स्पष्ट उल्लेख किया है – 'रामानंद रामरस माते, यहि कबीर हम कहि कहि थाके।'

कबीर के राम और तुलसी के राम

भक्ति काव्य में ईश्वर के दो रूपों की उपासना में कबीर निर्गुण ब्रह्म को चुनते हैं तो तुलसी उसके सगुण साकार स्वरूप को। हालांकि दोनों कवियों ने 'राम' की महिमा का बखान किया है। जहाँ कबीर राम को निर्गुण, निराकार, अजन्मा तथा अगोचर मानते हैं–

जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप सरूप।
पुहुप बास ते पातरा, ऐसा तत्त अनूप॥

वहीं तुलसी ने उन्हें सगुण, साकार व लोकमंगल का नियामक माना है। कबीर के लिए राम नाम स्मरण के रूप में भक्ति का आलंबन मात्र हैं। 'दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना' कहकर वे राम नाम के मर्म पर जोर देते हैं।ऐसा वे अवतारवाद का खंडन करने के लिए बारंबार कहते हैं: 'ना दसरथ घरि औतरि आवा, ना लंका का राव सतावा।' हालांकि ऐसे भी प्रसंग हैं जब कबीर भी तुलसी की श्दास्य भाव' की भक्ति की स्वीकार करते हैं–

कबिरा कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेवड़ी जित खैंचे तित जाउँ॥

कबीर की अनूठी विशेषता यह है कि उनकी काव्य संवेदना में प्रेम सिर्फ निरीह आत्मसमर्पण का रूपक नहीं, प्रचंड प्रश्नाकुलता का आधार भी है। प्रेम की सघनता के क्षणों में भक्त और भगवान का अंतर मिटाकर कबीर अपने 'राम की बहुरिया' तक बन जाते हैं। वहीं तुलसी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं तथा लोकमंगल एवं पालन हेतु अवतार ग्रहण किए हैं –

जब-जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हि असुर अधम अभिमानी॥
तब-तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

यहाँ राम शक्ति, शील और सौंदर्य से युक्त हैं। विष्णु के अवतार के रूप में धर्म की स्थापना के निमित्त शरीर धारण किए हैं। तुलसी ने राम के उदार, भक्त वत्सल रूप की प्रशंसा बार-बार की है:

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं॥

तुलसी के राम नर रूप में नानाविध लीलाओं में प्रवृत्त दिखते हैं। कबीर की भाँति तुलसी के यहाँ भक्त एवं भगवान के बीच भेद नहीं मिटता। राम के 'कोटि मनोज लजावनहारे' रूप का वर्णन करते हुए भी तुलसी भक्त ही रहते हैं, कबीर की भाँति कांता भाव प्रदर्शित नहीं करते। इस प्रकार तात्विक अभेद के बावजूद कबीर और तुलसी के राम में स्वरूपगत भेद विद्यमान है।

2

कबीर

कबीर या भगत कबीर 15वीं सदी के भारतीय रहस्यवादी कवि और संत थे। वे हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन युग में ज्ञानाश्रयी-निर्गुण शाखा की काव्यधारा के प्रवर्तक थे। इनकी रचनाओं ने हिन्दी प्रदेश के भक्ति आंदोलन को गहरे स्तर तक प्रभावित किया। उनका लेखन सिखों घ के आदि ग्रंथ में भी देखने को मिलता है।

वे हिन्दू धर्म व इस्लाम को न मानते हुए धर्म निरपेक्ष थे। उन्होंने समाज में फैली कुरीतियों, कर्मकांड, अंधविश्वास की निंदा की और सामाजिक बुराइयों की कड़ी आलोचना की थी। उनके जीवनकाल के दौरान हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उन्हें अपने विचार के लिए धमकी दी थी।

कबीर पंथ नामक धार्मिक सम्प्रदाय इनकी शिक्षाओं के अनुयायी हैं।

जीवन

लहरतारा प्रगट्या स्थल

कबीर के (लगभग 14वीं-15वीं शताब्दी) जन्म स्थान के बारे में विद्वानों में मतभेद है परन्तु अधिकतर विद्वान इनका जन्म काशी में ही मानते हैं, जिसकी पुष्टि स्वयं कबीर का यह कथन भी करता है।

'काशी में परगट भये,रामानंद चेताये'

कबीर के गुरु के सम्बन्ध में प्रचलित कथन है कि कबीर को उपयुक्त गुरु की तलाश थी। वह वैष्णव संत आचार्य रामानंद को अपना गुरु बनाना चाहते थे लेकिन उन्होंने कबीर को शिष्य बनाने से मना कर दिया। कबीर ने अपने मन में ठान लिया कि स्वामी रामानंद को ही हर कीमत पर अपना गुरु बनाऊंगा, इसके लिए कबीर के मन में एक विचार आया कि स्वामी रामानंद जी सुबह चार बजे गंगा स्नान करने जाते हैं उसके पहले ही उनके जाने के मार्ग में सीढ़ियों पर लेट जाऊंगा और उन्होंने ऐसा ही किया। एक दिन, एक पहर रात रहते ही कबीर पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर गिर पड़े। रामानन्द जी गंगास्नान करने के लिये सीढ़ियां उतर रहे थे कि तभी उनका पैर कबीर के शरीर पर पड़ गया। उनके मुख से तत्काल 'राम-राम' शब्द निकल पड़ा। उसी राम को कबीर ने दीक्षा-मन्त्र मान लिया और रामानन्द जी को अपना गुरु स्वीकार कर लिया। कबीर के ही शब्दों में-

काशी में परगट भये, रामानंद चेताये
जीविकोपार्जन के लिए कबीर जुलाहे का काम करते थे।

कबीर की दृढ़ मान्यता थी कि कर्मों के अनुसार ही गति मिलती है स्थान विशेष के कारण नहीं। अपनी इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए अंत समय में वह मगहर चले गए य क्योंकि लोगों की मान्यता थी कि काशी में मरने पर स्वर्ग और मगहर में मरने पर नरक मिलता है। मगहर में उन्होंने अंतिम सांस ली। आज भी वहां पर मजार व समाधी स्थित है।

भाषा

कबीर की भाषा सधुक्कड़ी एवं पंचमेल खिचड़ी हैं। इनकी भाषा में हिंदी भाषा की सभी बोलियों के शब्द सम्मिलित हैं। राजस्थानी, हरयाणवी, पंजाबी, खड़ी बोली, अवधी, ब्रजभाषा के शब्दों की बहुलता है।

कृतियां

धर्मदास ने उनकी वाणियों का संग्रह ' बीजक ' नाम के ग्रंथ में किया जिसके तीन मुख्य भाग हैं: साखी, सबद (पद), रमैनी।

साखी– संस्कृत 'साक्षी', शब्द का विकृत रूप है और धर्मोपदेश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अधिकांश साखियां दोहों में लिखी गयी हैं पर उसमें सोरठे

का भी प्रयोग मिलता है। कबीर की शिक्षाओं और सिद्धांतों का निरूपण अधिकतर साखी में हुआ है।

सबद गेय पद है जिसमें पूरी तरह संगीतात्मकता विद्यमान है। इनमें उपदेशात्मकता के स्थान पर भावावेश की प्रधानता है, क्योंकि इनमें कबीर के प्रेम और अंतरंग साधना की अभिव्यक्ति हुई है।

रमैनी चौपाई छंद में लिखी गयी है इनमें कबीर के रहस्यवादी और दार्शनिक विचारों को प्रकट किया गया है।

धर्म के प्रति

साधु संतों का तो घर में जमावड़ा रहता ही था। कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे- 'मसि कागद छूवो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।' उन्होंने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, मुंह से भाखे और उनके शिष्यों ने उसे लिख लिया। आप के समस्त विचारों में रामनाम की महिमा प्रतिध्वनित होती है। वे एक ही ईश्वर को मानते थे और कर्मकाण्ड के घोर विरोधी थे। अवतार, मूर्त्तिपूजा, रोजा, ईद, मस्जिद, मंदिर आदि को वे नहीं मानते थे।

वे कभी कहते हैं-

'हरिमोर पिउ, मैं राम की बहुरिया' तो कभी कहते हैं, 'हरि जननी मैं बालक तोरा'।

और कभी 'बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसै'

उस समय हिंदू जनता पर मुस्लिम आतंक का कहर छाया हुआ था। कबीर ने अपने पंथ को इस ढंग से सुनियोजित किया जिससे मुस्लिम मत की ओर झुकी हुई जनता सहज ही इनकी अनुयायी हो गयी। उन्होंने अपनी भाषा सरल और सुबोध रखी ताकि वह आम आदमी तक पहुँच सके। इससे दोनों सम्प्रदायों के परस्पर मिलन में सुविधा हुई। इनके पंथ मुसलमान-संस्कृति और गोभक्षण के विरोधी थे। कबीर को शांतिमय जीवन प्रिय था और वे अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि गुणों के प्रशंसक थे। अपनी सरलता, साधु स्वभाव तथा संत प्रवृत्ति के कारण आज विदेशों में भी उनका समादर हो रहा है।

उसी हालत में उन्होंने बनारस छोड़ा और आत्मनिरीक्षण तथा आत्मपरीक्षण करने के लिये देश के विभिन्न भागों की यात्राएं कीं इसी क्रम में वे कालिंजर जिले के पिथौराबाद शहर में पहुँचे। वहां रामकृष्ण का छोटा सा मन्दिर था। वहां के संत भगवान गोस्वामी के जिज्ञासु साधक थे, किंतु उनके तर्कों का अभी तक

पूरी तरह समाधान नहीं हुआ था। संत कबीर से उनका विचार-विनिमय हुआ। कबीर की एक साखी ने उन के मन पर गहरा असर किया-

'बन ते भागा बिहरे पड़ा, करहा अपनी बान। करहा बेदन कासों कहे, को करहा को जान।।'

वन से भाग कर बहेलिये के द्वारा खोये हुए गड्ढे में गिरा हुआ हाथी अपनी व्यथा किस से कहे ?

सारांश यह कि धर्म की जिज्ञासा सें प्रेरित हो कर भगवान गोसाई अपना घर छोड़ कर बाहर तो निकल आये और हरिव्यासी सम्प्रदाय के गड्ढे में गिर कर अकेले निर्वासित हो कर असंवाद्य स्थिति में पड़ चुके हैं।

मूर्त्ति पूजा को लक्ष्य करते हुए उन्होंने एक साखी हाजिर कर दी-

पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पूजौं पहार। वा ते तो चाकी भली, पीसी खाय संसार।।

कबीर के राम

कबीर के राम तो अगम हैं और संसार के कण-कण में विराजते हैं। कबीर के राम इस्लाम के एकेश्वरवादी, एकसत्तावादी खुदा भी नहीं हैं। इस्लाम में खुदा या अल्लाह को समस्त जगत एवं जीवों से भिन्न एवं परम समर्थ माना जाता है। पर कबीर के राम परम समर्थ भले हों, लेकिन समस्त जीवों और जगत से भिन्न तो कदापि नहीं हैं। बल्कि इसके विपरीत वे तो सबमें व्याप्त रहने वाले रमता राम हैं। वह कहते हैं

व्यापक ब्रह्म सबनिमैं एकै, को पंडित को जोगी। रावण-राव कवनसूं कवन वेद को रोगी।

कबीर राम की किसी खास रूपाकृति की कल्पना नहीं करते, क्योंकि रूपाकृति की कल्पना करते ही राम किसी खास ढांचे (फ्रेम) में बंध जाते, जो कबीर को किसी भी हालत में मंजूर नहीं। कबीर राम की अवधारणा को एक भिन्न और व्यापक स्वरूप देना चाहते थे। इसके कुछ विशेष कारण थे, किन्तु इसके बावजूद कबीर राम के साथ एक व्यक्तिगत पारिवारिक किस्म का संबंध जरूर स्थापित करते हैं। राम के साथ उनका प्रेम उनकी अलौकिक और महिमाशाली सत्ता को एक क्षण भी भुलाए बगैर सहज प्रेमपरक मानवीय संबंधों के धरातल पर प्रतिष्ठित है।

कबीर नाम में विश्वास रखते हैं, रूप में नहीं। हालांकि भक्ति-संवेदना के सिद्धांतों में यह बात सामान्य रूप से प्रतिष्ठित है कि 'नाम रूप से बढ़कर है', लेकिन कबीर ने इस सामान्य सिद्धांत का क्रांतिधर्मी उपयोग किया। कबीर ने राम-नाम के साथ लोकमानस में शताब्दियों से रचे-बसे संश्लिष्ट भावों को उदात्त एवं व्यापक स्वरूप देकर उसे पुराण-प्रतिपादित ब्राह्मणवादी विचारधारा के खांचे में बांधे जाने से रोकने का प्रयास किया ।

कबीर के राम निर्गुण-सगुण के भेद से परे हैं। वास्तव में उन्होंने अपने राम को शास्त्र-प्रतिपादित अवतारी, सगुण, वर्चस्वशील वर्णाश्रम व्यवस्था के संरक्षक राम से अलग करने के लिए ही 'निर्गुण राम' शब्द का प्रयोग कियाद्'निर्गुण राम जपहु रे भाई।' इस 'निर्गुण' शब्द को लेकर भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है । कबीर का आशय इस शब्द से सिर्फ इतना है कि ईश्वर को किसी नाम, रूप, गुण, काल आदि की सीमाओं में बांधा नहीं जा सकता। जो सारी सीमाओं से परे हैं और फिर भी सर्वत्र हैं, वही कबीर के निर्गुण राम हैं। इसे उन्होंने 'रमता राम' नाम दिया है। अपने राम को निर्गुण विशेषण देने के बावजूद कबीर उनके साथ मानवीय प्रेम संबंधों की तरह के रिश्ते की बात करते हैं। कभी वह राम को माधुर्य भाव से अपना प्रेमी या पति मान लेते हैं तो कभी दास्य भाव से स्वामी। कभी-कभी वह राम को वात्सल्य मूर्ति के रूप में मां मान लेते हैं और खुद को उनका पुत्र। निर्गुण-निराकार ब्रह्म के साथ भी इस तरह का सरस, सहज, मानवीय प्रेम कबीर की भक्ति की विलक्षणता है। यह दुविधा और समस्या दूसरों को भले हो सकती है कि जिस राम के साथ कबीर इतने अनन्य, मानवीय संबंधपरक प्रेम करते हों, वह भला निर्गुण कैसे हो सकते हैं, पर खुद कबीर के लिए यह समस्या नहीं है।

वह कहते भी हैं–

"संतौ, धोखा कासूं कहिये। गुनमैं निरगुन, निरगुनमैं गुन, बाट छांड़ि क्यूं बहिसे!" नहीं है।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने कबीर के राम एवं कबीर की साधना के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है: ' कबीर का सारा जीवन सत्य की खोज तथा असत्य के खंडन में व्यतीत हुआ। कबीर की साधना ''मानने से नहीं, ''जानने से आरम्भ होती है। वे किसी के शिष्य नहीं, रामानन्द द्वारा चेताये हुए चेला हैं। उनके लिए राम रूप नहीं है, दशरथी राम नहीं है, उनके राम तो नाम साधना के प्रतीक हैं। उनके राम किसी सम्प्रदाय, जाति या देश की सीमाओं

में कैद नहीं है। प्रकृति के कण-कण में, अंग-अंग में रमण करने पर भी जिसे अनंग स्पर्श नहीं कर सकता, वे अलख, अविनाशी, परम तत्व ही राम हैं। उनके राम मनुष्य और मनुष्य के बीच किसी भेद-भाव के कारक नहीं हैं। वे तो प्रेम तत्व के प्रतीक हैं। भाव से ऊपर उठकर महाभाव या प्रेम के आराध्य हैं :-

'प्रेम जगावै विरह को, विरह जगावै पीउ, पीउ जगावै जीव को, जोइ पीउ सोई जीउ' - जो पीउ है, वही जीव है। इसी कारण उनकी पूरी साधना ''हंस उबारन आए की साधना है। इस हंस का उबारना पोथियों के पढ़ने से नहीं हो सकता, ढाई आखर प्रेम के आचरण से ही हो सकता है। धर्म ओढ़ने की चीज नहीं है, जीवन में आचरण करने की सतत सत्य साधना है। उनकी साधना प्रेम से आरम्भ होती है। इतना गहरा प्रेम करो कि वही तुम्हारे लिए परमात्मा हो जाए। उसको पाने की इतनी उत्कण्ष्ठा हो जाए कि सबसे वैराग्य हो जाए, विरह भाव हो जाए तभी उस ध्यान समाधि में पीउ जाग्रत हो सकता है। वही पीउ तुम्हारे अंतर्मन में बैठे जीव को जगा सकता है। जोई पीउ है सोई जीउ है। तब तुम पूरे संसार से प्रेम करोगे, तब संसार का प्रत्येक जीव तुम्हारे प्रेम का पात्र बन जाएगा। सारा अहंकार, सारा द्वेष दूर हो जाएगा। फिर महाभाव जगेगा। इसी महाभाव से पूरा संसार पिउ का घर हो जाता है।

सूरज चन्द्र का एक ही उजियारा, सब यहि पसरा ब्रह्म पसारा।
जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी
फूटा कुम्भ जल जलहीं समाना, यह तथ कथौ गियानी।

कबीर (जन्म- सन् 1398 काशी - मृत्यु- सन् 1518 मगहर) का नाम कबीरदास, कबीर साहब एवं संत कबीर जैसे रूपों में भी प्रसिद्ध है। ये मध्यकालीन भारत के स्वाधीनचेता महापुरुष थे और इनका परिचय, प्राय: इनके जीवनकाल से ही, इन्हें सफल साधक, भक्त कवि, मतप्रवर्तक अथवा समाज सुधारक मानकर दिया जाता रहा है तथा इनके नाम पर कबीरपंथ नामक संप्रदाय भी प्रचलित है। कबीरपंथी इन्हें एक अलौकिक अवतारी पुरुष मानते हैं और इनके संबंध में बहुत-सी चमत्कारपूर्ण कथाएँ भी सुनी जाती हैं। इनका कोई प्रामाणिक जीवनवृत्त आज तक नहीं मिल सका, जिस कारण इस विषय में निर्णय करते समय, अधिकतर जनश्रुतियों, सांप्रदायिक ग्रंथों और विविध उल्लेखों तथा इनकी अभी तक उपलब्ध कतिपय फुटकल रचनाओं के अंत:साध्य का ही सहारा लिया जाता रहा है। फलत: इस संबंध में तथा इनके मत के भी विषय में बहुत कुछ मतभेद पाया जाता है।

संत कबीर दास हिंदी साहित्य के भक्ति काल के इकलौते ऐसे कवि हैं, जो आजीवन समाज और लोगों के बीच व्याप्त आडंबरों पर कुठाराघात करते रहे। वह कर्म प्रधान समाज के पैरोकार थे और इसकी झलक उनकी रचनाओं में साफ झलकती है। लोक कल्याण हेतु ही मानो उनका समस्त जीवन था। कबीर को वास्तव में एक सच्चे विश्व-प्रेमी का अनुभव था। कबीर की सबसे बड़ी विशेषता उनकी प्रतिभा में अबाध गति और अदम्य प्रखरता थी। समाज में कबीर को जागरण युग का अग्रदूत कहा जाता है।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि साधना के क्षेत्र में वे युग-युग के गुरु थे, उन्होंने संत काव्य का पथ प्रदर्शन कर साहित्य क्षेत्र में नव निर्माण किया था।

जन्म

कबीरदास के जन्म के संबंध में अनेक किंवदन्तियाँ हैं। कबीर पन्थियों की मान्यता है कि कबीर का जन्म काशी में लहरतारा तालाब में उत्पन्न कमल के मनोहर पुष्प के ऊपर बालक के रूप में हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि वे जन्म से मुसलमान थे और युवावस्था में स्वामी रामानंद के प्रभाव से उन्हें हिन्दू धर्म की बातें मालूम हुईं। एक दिन, एक पहर रात रहते ही कबीर पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर गिर पड़े। रामानन्द जी गंगा स्नान करने के लिये सीढ़ियाँ उतर रहे थे कि तभी उनका पैर कबीर के शरीर पर पड़ गया। उनके मुख से तत्काल 'राम-राम' शब्द निकल पड़ा। उसी राम को कबीर ने दीक्षा-मन्त्र मान लिया और रामानन्द जी को अपना गुरु स्वीकार कर लिया। कबीर के ही शब्दों में-

हम कासी में प्रकट भये हैं,
रामानन्द चेताये।

कबीरपंथियों में इनके जन्म के विषय में यह पद्य प्रसिद्ध है-

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी तिथि प्रगट भए।
घन गरजें दामिनि दमके बूँदे बरषें झर लाग गए।
लहर तलाब में कमल खिले तहँ कबीर भानु प्रगट भए।

मृत्यु

कबीर ने काशी के पास मगहर में देह त्याग दी। ऐसी मान्यता है कि मृत्यु के बाद उनके शव को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया था। हिन्दू कहते थे कि

उनका अंतिम संस्कार हिन्दू रीति से होना चाहिए और मुस्लिम कहते थे कि मुस्लिम रीति से। इसी विवाद के चलते जब उनके शव पर से चादर हट गई, तब लोगों ने वहाँ फूलों का ढेर पड़ा देखा। बाद में वहाँ से आधे फूल हिन्दुओं ने ले लिए और आधे मुसलमानों ने। मुसलमानों ने मुस्लिम रीति से और हिंदुओं ने हिंदू रीति से उन फूलों का अंतिम संस्कार किया। मगहर में कबीर की समाधि है। जन्म की भाँति इनकी मृत्यु तिथि एवं घटना को लेकर भी मतभेद हैं किन्तु अधिकतर विद्वान् उनकी मृत्यु संवत 1575 विक्रमी (सन 1518 ई.) मानते हैं, लेकिन बाद के कुछ इतिहासकार उनकी मृत्यु 1448 को मानते हैं।

समकालीन सामाजिक परिस्थिति

महात्मा कबीरदास के जन्म के समय में भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशा शोचनीय थी। एक तरफ मुसलमान शासकों की धर्मान्धता से जनता परेशान थी और दूसरी तरफ हिन्दू धर्म के कर्मकांड, विधान और पाखंड से धर्म का ह्रास हो रहा था। जनता में भक्ति- भावनाओं का सर्वथा अभाव था। पंडितों के पाखंडपूर्ण वचन समाज में फैले थे। ऐसे संघर्ष के समय में, कबीरदास का प्रार्दुभाव हुआ। जिस युग में कबीर आविर्भूत हुए थे, उसके कुछ ही पूर्व भारतवर्ष के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना घट चुकी थी। यह घटना इस्लाम जैसे एक सुसंगठित सम्प्रदाय का आगमन था। इस घटना ने भारतीय धर्मदृमत और समाज व्यवस्था को बुरी तरह से झकझोर दिया था। उसकी अपरिवर्तनीय समझी जाने वाली जाति-व्यवस्था को पहली बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी। सारा भारतीय वातावरण संक्षुब्ध था। बहुत-से पंडितजन इस संक्षोभ का कारण खोजने में व्यस्त थे और अपने-अपने ढंग पर भारतीय समाज और धर्म-मत को सम्भालने का प्रयत्न कर रहे थे।

साहित्यिक परिचय

कबीर सन्त कवि और समाज सुधारक थे। उनकी कविता का एक-एक शब्द पाखंडियों के पाखंडवाद और धर्म के नाम पर ढोंग व स्वार्थपूर्ति की निजी दुकानदारियों को ललकारता हुआ आया और असत्य व अन्याय की पोल खोल धज्जियाँ उड़ाता चला गया। कबीर का अनुभूत सत्य अंधविश्वासों पर बारूदी पलीता था। सत्य भी ऐसा जो आज तक के परिवेश पर सवालिया निशान बन चोट भी करता है और खोट भी निकालता है।

कबीर की साखी-1

सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी सई न दाति ।
हरिजी सवाँ न को हितू, हरिजन सई न जाति ॥1॥

सद्गुरु के समान कोई सगा नहीं है। शुद्धि के समान कोई दान नहीं है। इस शुद्धि के समान दूसरा कोई दान नहीं हो सकता। हरि के समान कोई हितकारी नहीं है, हरि सेवक के समान कोई जाति नहीं है।

बलिहारी गुरु आपकी, घरी घरी सौ बार ।
मानुष तैं देवता किया, करत न लागी बार ॥2॥

मैं अपने गुरु पर प्रत्येक क्षण सैकड़ों बार न्यौछावर जाता हूँ जिसने मुझको बिना विलम्ब के मनुष्य से देवता कर दिया।

सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार ।
लोचन अनँत उघारिया, अनँत दिखावनहार ॥3॥

सद्गुरु की महिमा अनन्त है। उसका उपकार भी अनन्त है। उसने मेरी अनन्त दृष्टि खोल दी जिससे मुझे उस अनन्त प्रभु का दर्शन प्राप्त हो गया।

राम नाम कै पटंतरे, देबे कौं कुछ नाहिं ।
क्या लै गुरु संतोषिए, हौंस रही मन माँहि ॥4॥

गुरु ने मुझे राम नाम का ऐसा दान दिया है कि मैं उसकी तुलना में कोई भी दक्षिणा देने में असमर्थ हूँ।

सतगुरु कै सदकै करूँ, दिल अपनीं का साँच ।
कलिजुग हम सौं लड़ि पड़ा, मुहकम मेरा बाँच ॥5॥

सद्गुरु के प्रति सच्चा समर्पण करने के बाद कलियुग के विकार मुझे विचलित न कर सके और मैंने कलियुग पर विजय प्राप्त कर ली।

सतगुरु शब्द कमान ले, बाहन लागे तीर ।
एक जु बाहा प्रीति सों, भीतर बिंधा शरीर ॥6॥

मेरे शरीर के अन्दर (अन्तरात्मा में) सद्गुरु के प्रेमपूर्ण वचन बाण की भाँति प्रवेश कर चुके हैं जिससे मुझे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया है।

सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक ।
लागत ही भैं मिलि गया, पड्या कलेजै छेक ॥7॥

सद्गुरु सच्चे वीर हैं। उन्होंने अपने शब्दबाण द्वारा मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव डाला है।

पीछैं लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥8॥

मैं अज्ञान रूपी अन्धकार में भटकता हुआ लोक और वेदों में सत्य खोज रहा था। मुझे भटकते देखकर मेरे सद्गुरु ने मेरे हाथ में ज्ञानरूपी दीपक दे दिया जिससे मैं सहज ही सत्य को देखने में समर्थ हो गया।

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट ।
पूरा किया बिसाहना, बहुरि न आँवौं हट्ट ॥9॥

कबीर दास जी कहते हैं कि अब मुझे पुनः इस जन्म-मरणरूपी संसार के बाजार में आने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मुझे सद्गुरु से ज्ञान प्राप्त हो चुका है।

ग्यान प्रकासा गुरु मिला, सों जिनि बीसरिं जाइ ।
जब गोविंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आई ॥10॥

गुरु द्वारा प्रदत्त सच्चे ज्ञान को मैं भूल न जाऊँ ऐसा प्रयास मुझे करना है, क्योंकि ईश्वर की कृपा से ही सच्चे गुरु मिलते हैं।

कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लौंन ।
जाति पाँति कुल सब मिटे, नाँव धरौगे कौंन ॥11॥

कबीर कहते हैं कि मैं और मेरे गुरु आटे और नमक की तरह मिलकर एक हो गये हैं। अब मेरे लिये जाति-पांति और नाम का कोई महत्त्व नहीं रह गया है।

जाका गुरु भी अँधला, चेला खरा निरंध ।
अंधहि अंधा ठेलिया, दोनों कूप पडंत ॥12॥

अज्ञानी गुरु का शिष्य भी अज्ञानी ही होगा। ऐसी स्थिति में दोनों ही नष्ट होंगे।

नाँ गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्याडाव ।
दोनौं बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव ॥13॥

साधना की सफलता के लिए ज्ञानी गुरु तथा निष्ठावान साधक का संयोग आवश्यक है। ऐसा संयोग न होने पर दोनों की ही दुर्गति होती है। जैसे कोई पत्थर की नाव पर चढ़ कर नदी पार करना चाहे।

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माँहि ।
तिहि घर किसकौ चाँदना, जिहि घर गोविंद नाँहि ॥14॥

ईश्वर भक्ति के बिना केवल कलाओं और विद्याओं की निपुणता मात्र से मनुष्य का कल्याण सम्भव नहीं है।

भली भई जु गुर मिल्या, नातर होती हानि ।
दीपक जोति पतंग ज्यूँ, पड़ता आप निदान ॥15॥

कबीर दास जी कहते हैं कि सौभाग्यवश मुझे गुरु मिल गया अन्यथा मेरा जीवन व्यर्थ ही जाता तथा मैं सांसारिक आकर्षणों में पड़कर नष्ट हो जाता।

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पडंत ।
कहै कबीर गुर ग्यान तैं, एक आध उबरंत ॥16॥

माया का आकर्षण इतना प्रबल है कि कोई विरला ही गुरु कृपा से इससे बच पाता है।

संसै खाया सकल जग, संसा किनहुँ न खा ।
जे बेधे गुरु अष्षिरां, तिनि संसा चुनिचुनि खा ॥17॥

अधिकांश मनुष्य संशय से ग्रस्त रहते हैं। किन्तु गुरु उपदेश से संशय का नाश संभव है।

सतगुर मिल्या त का भया, जे मनि पाड़ी भोल ।
पांसि विनंठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारी चोल ॥18॥

सद्गुरु मिलने पर भी यह आवश्यक है कि साधना द्वारा मन को निर्मल किया जाय अन्यथा गुरु मिलन का संयोग भी व्यर्थ चला जाता है।

बूड़ा था पै ऊबरा, गुरु की लहरि चमंकि ।
भेरा देख्या जरजरा, तब ऊतरि पड़े फरंकि ॥19॥

कबीर दास जी कहते हैं कि कर्मकाण्ड रूपी नाव से भवसागर पार करना कठिन था। अतः मैंने कर्मकाण्ड छोड़कर गुरु द्वारा बताये गये मार्ग से आसानी से सिद्धि प्राप्त कर ली।

गुरु गोविंद तौ एक है, दूजा यहु आकार ।
आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार ॥20॥

गुरु और ईश्वर में कोई भेद नहीं है। जो साधक अहंता का भाव त्याग देता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

कबीर सतगुर ना मिल्या, रही अधूरी सीख।
स्वाँग जती का पहिरि करि, घरि घरि माँगे भीख॥21॥

सद्गुरु के मार्गदर्शन के अभाव में साधना अधूरी रह जाती है और ऐसे लोग संन्यासी का वेश बनाकर केवल भिक्षा मांगते रहते हैं।

सतगुर साँचा, सूरिवाँ, तातैं लोहि लुहार।
कसनी दे कंचन किया, ताई लिया ततसार।।22।।

इस साखी में कबीर दास जी ने सद्गुरु के लिए सोनार और लोहार का दृष्टान्त दिया है। सोनार की भाँति गुरु शिष्य को साधना की कसौटी पर परखता है फिर लोहार की भाँति तपाकर शिष्य के मन को सही आकार देता है।

निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर ।
निपजी मैं साझी घना, बाँटे नहीं कबीर ।।23।।

कबीर दास जी कहते हैं कि सद्गुरु की कृपा से आत्मज्ञान का आनन्द मुझे मिला है, किन्तु चाह कर भी मैं इस आनन्द को दूसरों के साथ बाँट नहीं सकता, क्योंकि आत्मानुभूति के लिए व्यक्ति को स्वयं साधना करनी पड़ती है।

सतगुर हम सूँ रीझि करि, कहा एक परसंग ।
बरसा बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग ।।24।।

सद्गुरु ने प्रसन्न होकर हमसे एक रहस्य की बात बतलायी, जिससे प्रेम का बादल इस प्रकार बरसा कि हम उसमें भींग गये।

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ ।
अंतरि भीगी आतमाँ, हरी भई बनराई ।।25।।

कबीर कहते हैं कि सद्गुरु के बताये हुए मार्ग से प्रेम का बादल उमड़कर हमारे ऊपर बरसने लगा। हमारी अन्तरात्मा भींग गयी और जीवनरूपी वनराशि हरी हो गयी।

सुमिरन

कबीर कहता जात है, सुनता है सब कोइ ।
राम कहें भल होइगा, नहिं तर भला न होइ ।।26।।

कबीरदास कहते हैं कि मैं कहता जाता हूँ अर्थात् बराबर कहता रहा हूँ और सभी मेरी बात सुनते भी हैं, किन्तु मेरे उपदेश के अनुरूप कोई आचरण नहीं करता। मेरा कहना यही है कि प्रभु के स्मरण से ही कल्याण होगा और किसी प्रकार से कल्याण नहीं हो सकता।

कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गये ब्रह्म महेस ।
राम नाम ततसार है, सब काहू उपदेस ।।27।।

कबीर कहते हैं कि ब्रह्मा और शिव ने सारे संसार को एक मुख्य उपदेश दिया है और मैं भी वही कहता हूँ कि राम-नाम ही वास्तव में सार वस्तु है।

तत्त तिलक तिहुँ लोक मैं, रामनाम निज सार ।
जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार ।।28।।

तीनों लोकों में श्रेष्ठ तत्त्व रामनाम है और वही अपना भी सार है। भक्त कबीर ने अपने मस्तक पर उसको धारण कर लिया और इससे उनके जीवन में अपार शोभा आ गयी।

भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार ।
मनसा वाचा कर्मना, कबीर सुमिरन सार ।।29।।

प्रभु की भक्ति और उनके नाम का भजन (जप) यही वस्तुतः सार है और सब बातें अपार दुःख हैं। कबीर का यह कहना है कि मन, वचन और कर्म से प्रभु का स्मरण ही जीवन का सार है।

चिंता तौ हरि नाँव की, और न चितवै दास ।
जे कछु चितवैं राम बिन, सोइ काल की पास ।।30।।

दास कबीर कहते हैं कि मैं तो केवल हरि नाम का चिन्तन करता हूँ और किसी वस्तु का चिन्तन नहीं करता। जो लोग राम को छोड़कर और कुछ चिन्तन करते हैं, वे बन्धन और मृत्यु में फँसते हैं।

मेरा मन सुमिरै राम को, मेरा मन रामहि आहि ।
अब मन रामहिं ह्वै रहा, सीस नवावौं काहि ।।31।।

मेरा मन राम का स्मरण करते-करते राममय हो गया। ऐसी स्थिति में अब मैं किसको नमस्कार करूँ?

तूँ तूँ करता तू भया, मुझ मैं रही न हूँ ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ ।।32।।

मुझमें अहंभाव समाप्त हो गया। मैं पूर्ण रूप से तेरे ऊपर न्यौछावर हो गया हूँ और अब जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू दिखलाई देता है अर्थात् सारा जगत् ब्रह्ममय हो गया है।

कबीर निरभै राम जपु, जब लगि दीवै बाति ।
तेल घटै बाती बुझै, (तब) सोवैगा दिन राति ।।33।।

कबीर कहते हैं कि जब एक शरीर रूपी दीपक में प्राण रूपी वर्तिका विद्यमान है अर्थात् जब तक जीवन है, तब तक निर्भय होकर राम नाम का स्मरण करो। जब तेल घटने पर बत्ती बुझ जायेगी अर्थात शक्ति क्षीण होने पर जब जीवन

समाप्त हो जायेगा तब तो तू दिन-रात सोयेगा ही अर्थात मृत हो जाने पर जब तेरा शरीर निश्चेतन हो जायेगा, तब तू क्या स्मरण करेगा?

कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि ।
इक दिन सोवन होइगा, लम्बे पाँव पसारि ॥34॥

कबीर जीव को चेतावनी देते हैं कि हे जीव ! तू अज्ञान-निद्रा में सोते हुए क्या कर रहा है? जग कर अर्थात् इस निद्रा को त्याग कर भगवान का स्मरण कर। एक दिन तो तुझे पैर फैलाकर चिर निन्द्रा में मग्न होना ही है।

कबीर सूता क्या करै, गुन गोविंद के गाई ।
तेरे सिर पर जम खड़ा, खरच कदे का खाई ॥35॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव ! तू अज्ञान-निद्रा में सोया हुआ क्या कर रहा है? तू प्रभु का गुणगान क्यों नहीं करता है? तेरे सिर पर यमराज खड़ा है। तू भी काल-ग्रस्त हो जाएगा, बचेगा नहीं। इसलिए जीवन रहते हुए सचेत होकर भगवान का स्मरण कर।

केसौ कहि कहि कूकिए, नाँ सोइय असरार ।
राति दिवस कै कूकनै, कबहुँक लगे पुकार ॥36॥

प्रभु को निरन्तर आर्त्त स्वर से पुकारते रहो। घोर निद्रा में न पड़े रहो। दिन-रात की पुकार से, सम्भव है, कभी सुनवाई हो जाय और तुम्हारी पुकार लग जाये।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहिं राम ।
ते नर इस संसार में, उपजि गाये बेकाम ॥37॥

जिनके हृदय में न प्रेम है, न प्रेम का आस्वाद और जिनकी जिह्वा पर राम नाम भी नहीं है, वे मनुष्य इस संसार में व्यर्थ पैदा होकर नष्ट होते हैं।

कबीर प्रेम न चाषिया, चषि न लीया साव ।
सूने घर का पाहुनाँ ज्यूँ आया त्यूँ जाव ॥38॥

कबीर कहते है कि जिसने प्रभु के प्रेम का अनुभव नहीं किया उसका इस संसार में जन्म लेना और मर जाना सूने घर में अतिथि के आने-जाने के समान है।

पहिलै बुरा कमाई करि, बाँधी विष की पोट ।
कोटि करम फिल पलक मैं, (जब) आया हरि की ओट ॥39॥

पहले अर्थात् पूर्व जन्म में अनेक पाप-कर्म करके जीव ने जो विष की गठरी बाँध रखी है, प्रभु की शरण में जाने पर वह उसको क्षण भर में फेंक कर शुद्ध हो जाता है।

कोटि क्रम पेलै पलक मैं, जे रंचक आवै नाउँ।
अनेक जुग जो पुन्नि करै, नहीं राम बिन ठाउँ।।40।।

यदि प्रभु का तनिक भी नाम-स्मरण किया जाये तो वह पूर्व जन्म के करोड़ों दुष्कर्मों को क्षण भर में ढकेल कर नष्ट कर सकता है। किन्तु-भक्ति के बिना मनुष्य चाहे अनेक युगों तक पुण्य करे, उसको कोई ठौर-ठिकाना नहीं मिल सकता है।

जिहि हरि जैसा जानियां, तिनकौ तैसा लाभ।
ओसों प्यास न भाजई, जब लगि धसै न आभ।।41।।

प्रभु को जिसने जिस प्रकार पहचाना है, उसी प्रकार उसको लाभ प्राप्त होता है। जब तक प्यासा पानी में डुबकी नहीं लगाता, तब तक केवल ओस चाटने से प्यास नहीं जाती।

राम पियारा छांडि करि, करै आन का जाप।
वेस्या केरा पूत ज्यौं, कहै कौन सौं बाप।।42।।

जो परम मित्र परमात्मा राम को छोड़कर अन्य देव-देवी का जप करता है, वह वेश्या के पुत्र के समान है, जो अपने वास्तविक पिता को नहीं जानता। वस्तुतः परमात्मा ही सबका पिता है, अन्य कोई नहीं।

कबीर आपन राम कहि, औरन राम कहाइ।
जिहि मुखि राम न ऊचरै, तिहि मुख फेरि कहाइ।।43।।

कबीर कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं राम का जप करना ही चाहिए, उसे औरों से भी 'राम' कहलवाना चाहिए। जो व्यक्ति राम नाम का उच्चारण नहीं करता है, उससे बार-बार कहलाना चाहिये।

जैसे माया मन रमैं, यौं जे राम रमाइ।
(तौ) तारा मंडल बेधि कै, जहाँ के सो तहँ जाइ।।44।।

जिस प्रकार जीव का मन माया में रमण करता है, उसी प्रकार यदि उसका मन राम में रमण करे तो वह ब्रह्म में लीन हो सकता है।

लूटि सकै तौ लूटि लै, राम नाम की लूटि ।
फिर पाछे पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि ।।45।।

मानव शरीर ही एक ऐसी योनि है जिसमें साधना सम्भव है। जब यह शरीर छूट जाएगा तो यह आध्यात्मिक साधना संभव न हो सकेगी और तब पछताओगे कि एक ईश्वर प्रदत्त अवसर को गँवा दिया।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम भंडार ।
काल कंठ तैं गहेगा, रूँधै दसों दुवार ।।46।।

राम नाम का अक्षय भण्डार यथाशक्ति लूट लो। जब काल तुम्हारे कंठ को दबोचेगा, तब शरीर के दसों द्वार अवरद्ध हो जायेंगे। उस समय तुम चेतना-शून्य को जाओगे और राम नाम का स्मरण कैसे कर सकोगे ?

लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार ।
कहौ संतौ क्यों पाइए, दुर्लभ हरि दीदार ।।47।।

पथिक का घर बहुत दूर है और मार्ग केवल लम्बा ही नहीं, दुष्कर भी है। मार्ग में बहुत से बटमार भी मिलते हैं। ऐसी स्थिति में अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचना अत्यन्त दुर्लभ है। इसी प्रकार प्रभु की प्राप्ति अपना लक्ष्य है। इसलिए चेत जाओ और गुरु की सहायता से मार्ग से विघ्नों से बचते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त करो।

गुन गाए, गुन ना कटै, रटै न, राम बियोग ।
अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यों पावै दुर्लभ जोग ।।48।।

प्रभु का केवल गुणगान करने से कि वह सर्वव्यापी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और कीर्तन-भजन करने से प्रकृति का त्रिगुणात्मक बन्धन नहीं कट सकता। यदि भक्त हृदय से उसका स्मरण न करता रहे तो प्रभु से वियोग बना रहता है।

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरताँ हरि नाम।
सूली ऊपरि नट विद्या, गिरै त नाहीं ठाम।।49।।

कबीर कहते हैं कि प्रभु के भक्ति-मार्ग में बड़ी कठिनाई है। यह कठिनाई उसी प्रकार की है जेसै सूली के ऊपर नट द्वारा दिखलायी जाने वाली कला, जिसमें हमेशा यह भयावह स्थिति बनी रहती है कि यदि वह गिरा तो उसके बचने का कोई सहारा नहीं है।

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौं करि मंत।
हरि सागर जिनि बीसरै, छीलर देखि अनंत।।50।।

कबीर कहते हैं कि जिह्वा से तो राम का मन्त्र जपते रहो और मन से उनका ध्यान करते रहो। मन्त्र जपना प्राण की क्रिया है, ध्यान मन की क्रिया। अतः प्रभु तो सागर के समान हैं इसलिये छिछले तालाब रूपी देव-देवियों के चक्कर में पड़कर महासागर के समान प्रभु को मत भुला दो।

कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ ।
फूटा नग ज्यों जोड़ि मन, संधिहि संधि मिलाइ ॥51॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव ! तू उस अमर तत्त्व का गुणगान कर, जो अमृत के समान औरों को भी अमर कर देता है। अपने चित्त को प्रभु में उसी प्रकार मिला दे, जैसे जौहरी फूटे हुए नग को संधि से संधि कर अर्थात् आपस में मिलाकर जोड़ देता है।

कबीर चित्त चमंकिया, चहुँ दिस लागी लाइ ।
हरि सुमिरन हाथौं घड़ा बेगे लेहु बुझाइ ॥52॥

कबीर कहते हैं कि इस संसार में सर्वत्र विषय वासना रूपी आग लगी हुई है। उसके ताप से तेरा चित्त तप्त हो उठा है। परन्तु हे भक्त! तू घबड़ा मत। प्रभु के स्मरण-रूपी पावन जल से भरा हुआ घट तेरे हाथ में है अर्थात् तू प्रभु का स्मरण करने की स्थिति में है। उस घड़े से तू विषय-वासना रूपी आग को शीघ्र ही अधीन कर ले अर्थात् बुझा ले।

ग्यान बिरह॥

दीपक पावक आँनिया,तेल भि आना संग।
तीन्यँ मिलि करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ैं पतंग॥53॥

ज्योति के लिए तीन तत्त्वों की आवश्यकता होती है-दीपक, आग और तेल। इसी प्रकार जीव में ज्ञान रूपी ज्योंति तभी आ सकती हैं, जब गुरु जीव रूपी दीपक में ज्ञान रूपी अग्नि और प्रेम अथवा भक्ति रूपी तेल एकत्र कर तीनों को योजित कर दे। ऐसा होने पर फिर तो विषय-वासना रूपी पतिंगे स्वत: आ-आकर जल मरते हैं।

मारा है जे मरैगा, बिन सर थोथी भालि ।
पड़ा पुकारै ब्रिछ तरि, आजि मरै कै काल्हि ॥54॥

यदि गुरु ने केवल ज्ञान-विहीन बिरह का बाण मारा है, तब भी शिष्य मरेगा अर्थात् अपना या अहंभाव खोयेगा अवश्य। ठीक इसी प्रकार जिसमें केवल रागात्मक बिरह है, वह भी अहंभाव खोएगा, किन्तु बहुत समय के बाद। जिसको ज्ञान संयुक्त बिरह का बाण लगा है, वह शीघ्र ही अहंभाव खो देगा।

झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसनि रही विभूति॥55॥

ज्ञान रूपी अग्नि प्रज्ज्वलित हुई, उसमें योगी के सारे संचित कर्मों की झोली जल गयी और क्रियमाण कर्म रूपी भिक्षापात्र भी टूट-फुट गया अर्थात्

अब उसका भी योगी पर कोई प्रभाव न रहा। उसके भीतर जो तत्त्व साधना कर रहा था, वह ब्रह्म में विलुप्त हो गया। अब आसन पर केवल भस्म रह गया अर्थात् साधक अपने पूर्व रूप में न रह कन अवशेष मात्र प्रतीक रूप में कहने-सुनने को रह गया।

आगि जु लागी नीर महिं, कांदौ जरिया झारि।
उतर दखिन के पंडिता, मुए बिचारि बिचारि॥56॥

पानी में आग लग गयी और उसका कीचड़ सम्पूर्णतया जल गया अर्थात अवचेतन में जो दूषित संस्कार और वासनाएँ हैं वे भस्म हो गई। उत्तर-दक्षिण के पंडित (पोथी तक सीमित ज्ञान वाले पंडित) अर्थात् चारों ओर के शास्त्री विचार कर हार गये पर इसका मर्म किसी की समझ में न आया।

दौं लागी सायर जला पंखी बैठे आई।
दाधी देह न पालवै, सद्गुरु गया लगाइ॥57॥

ज्ञान-विरह की अग्नि से मानस-सरोवर जल गया। अब हंस रूपी शुद्ध जीव ऊपर स्थित हो गया अर्थात् वासनाओं और पृथक् वैयक्तिक सत्ता से विमुक्त हो गया। पृथक् वैयक्तिक सत्ता रूपी देह भस्म हो गयी। अब वह पुनः नहीं पनप सकती अर्थात् स्वयं का अहंभाव सदा के लिए जाता रहा। अब वह पुनः पल्लवित न हो सकेगा।

गुरु दाधा चेला जला, बिहरा लागी आगि।
तिनका बपुरा ऊबरा, गलि पूरे के लागि॥58॥

गुरु ने बिरह की आग लगायी। उस आग में चेला जल गया अर्थात् उसके भीतर पूर्ण रूप से विरह की आग व्याप्त हो गई। सामान्यतया आग लगने से तिनका जलकर राख हो जाता है। परन्तु विरह की आग ऐसी होती है जिससे बेचारे क्षुद्र चेले रूपी तिनके का उद्धार ही हो जाता है, क्योंकि उस बिरह से तृण का भस्म से और चेले का पूर्ण से आलिंगन हो जाता है।

अहेड़ी दौ लाइया मिरग पुकारे रोइ।
जा बन में क्रीला करी, दाझत है बन सोइ॥59॥

गुरु रूपी शिकारी शिष्य के मनरूपी देहात्मक वन में ज्ञान-विरह की आग लगता है और वह वासनासक्त जीव रूपी मृग चिल्ला-चिल्लाकर रोता है कि जिस विषय-वासना रूपी वन में भोग कर रहे थे, वह अब जल रहा है,नष्ट हुआ जा रहा है। अर्थात् मृग और आसक्ति-मुक्त जीवन में केवल भेद यह है कि मृग

को वन का मोह बना रहता है, परन्तु आसक्ति-मुक्त जीव को क्षण भर के लिए धक्का-सा तो लगता है, परन्तु बाद में उसे मधुर शांति का अनुभव होता है।

पांनीं मांहीं परजली, भई अपरबल आगि।
बहती सरिता रहि गई, मच्छ रहे जल त्यागि॥60॥

जब गुरु ने ज्ञान-विरह की अग्नि प्रज्ज्वलित की तो प्रबल ज्वाला उठी और विषयासक्त जीव प्रज्ज्वलित हो गया। इन्द्रियों का कार्य समाप्त हो गया और जीवात्मा रूपी मत्स्य ने विषय-वासनामयी जल को त्याग दिया।

परचा (परिचय)॥

कबीर तेज अनंत का, मानो सूरज सेनि ।
पति संगि जागी सुन्दरी, कौतुक वीठा तेनि ॥61॥

कबीर कहते हैं कि परमात्मा की ज्योति इतनी शक्तिशाली है मानों सूर्य की श्रेणी उदय हुई हो। परन्तु इस ज्योति रूपी ज्ञान का अनुभव सबको नहीं होता। जो व्यक्ति मोह-निद्रा में सोता नहीं रहता, परमात्मा के साथ जागता रहता है, उन्हीं के द्वारा यह रहस्य देखा जाता है।

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान ।
कहिबे कौ सोभा नहीं, देखे ही परमान ॥62॥

परब्रह्म के प्रकाश का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अनुमान, प्रत्यक्ष, उपमान आदि साधन तो मायिक जगत् के हैं। उसका साक्षात्कार इन किसी भी साधनों के क्षेत्र में नहीं है। उसका सौन्दर्य व्याख्यान से परे है। उसका प्रमाण केवल अपरोक्षानुभूति ही है।

हदे छाँड़ि बेहदि गया, हुआ निरन्तर वास ।
कवँल जु फूला फूल बिना, को निरखै निज दास ॥63॥

कबीर कहते हैं कि मैं ससीम से परे अर्थात् पारकर असीम में पहुँच गया और वहाँ मेरी शाश्वत स्थिति हो गई। वहाँ मैंने अनुभव किया कि बिना किसी फूल के एक कमल खिला हुआ जिसे प्रभु-भक्त के सिवाय भला और कौन देख सकता है ?

अन्तरि कँवल प्रकासिका, ब्रह्म वास तहँ होइ ।
मन भँवरा तहँ लुबधिया, जानैगा जन कोइ ॥64॥

हृदय के अंतर्मन में कमल अर्थात् ज्योति प्रकाशित हो रहा है। वहाँ ब्रह्म का निवास है। मन रूपी भौंरा उस कमल रूपी ज्योंति पर लुब्ध होकर उसमें विचरण करता रहता है। इस रहस्य को केवल प्रभु का भक्त ही जान सकता है।

सायर नाहीं सीप नहिं, स्वाति बूँद भी नाँहि ।
कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिखर गढ़ माँहि ॥65॥

कबीर कहते हैं कि वहाँ न तो सागर है न सीप है और न ही स्वाति-बूँद अर्थात् मोती में उत्पन्न होने के जितने संभावित कारण हैं, उनमें से एक भी विद्यमान नहीं है, फिर भी इस शरीर के भीतर सहस्रार में मोती उत्पन्न हो रहा है अर्थात् एक अद्‌भुत ज्योति का साक्षात्कार हो रहा है।

घट माँहैं औघट लह्या, औघट माँहैं घाट ।
कहि कबीर परचा भया, गुरू दिखाई बाट ॥66॥

कबीर कहते हैं कि गुरु ने मार्ग दर्शन किया। परिणामस्वरूप इस शरीर में ही मैंने एक विकट मार्ग का अनुभव किया और उस विकट मार्ग से ही अपने लक्ष्य को प्राप्त किया। वहाँ मुझे सत्य का दर्शन अर्थात् साक्षात्कार हुआ।

सूर समाना चाँद मैं, दुहूँ किया घर एक ।
मन का चेता तब भया, कछू पूरबला लेख ॥67॥

जब सूर्य नाड़ी चन्द्र नाड़ी में समाहित हो जाती है अर्थात् सुषुम्ना में चलने लगती है, तब मन का स्वेच्छित फल मिल जाता है। यह पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों का ही परिणाम है।

हद्द छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनि जन महल न पावहीं, तहाँ किया बिसराम॥68॥

कबीर ने सीमित से आगे बढ़कर असीम को प्राप्त कर लिया है। अब वह शून्य के आनन्द-सागर में अवगाहन कर रहे हैं। जो स्थान बड़े-बड़े मुनियों के लिए भी दुर्लभ है, वहाँ पहुँचकर कबीर पूर्ण विश्राम कर रहे हैं।

देखौ करम कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख ।
जाका महल न मुनि लहैं सो दोसत किया अलेख ॥69॥

कबीर कहते हैं कि यह मेरे किसी पूर्व जन्म के पुण्य का फल है कि जिस स्थान को बड़े-बड़े मुनि नहीं प्राप्त कर सकते हैं, वह मुश्किल लक्ष्य, निराकार सत्ता कबीर के लिए प्रिय के समान प्राप्त है।

मन लागा उनमन्न सौ, गगन पहूँचा जाइ ।
चाँद बिहूँना चांदिना, अलख निरंजन राइ ॥70॥

मेरा मन एक संकल्प-विकल्पात्मक अवस्था के ऊपर राम के मन में मिल गया। वहाँ मैंने एक विचित्र प्रकाश का अनुभव किया, जो कि बिना चन्द्रमा के ही चाँदनी जैसा शीतल और स्निग्ध था। मैंने वहीं उस त्रिगुणातीत,

निर्गुण, निराकार सत्ता का दर्शन किया है जो कि स्थूल इन्द्रियों की पहुँच से परे है।

मन लागा उनमन्न सो, उनमन मनहि विलग ।
लौंन विलंगा पानियाँ, पानीं लौंन विलग ॥71॥

कबीर कहते हैं कि मेरे संकल्प-विकल्पात्मक मन ने अपना स्वभाव छोड़ दिया और राम के मन में उसी प्रकार से सानिध्य हो गया जैसे नमक और जल मिलकर एक हो जाते हैं।

पानी ही तै हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कहा न जाइ ॥72॥

मानव के भीतर जो साक्षि-चैतन्य है, जो चिन्मात्र है, वह पानी के समान है। वही चिन्मात्र अन्त:करण से परिसीमित होकर चिदाभास का रूप ग्रहण करता है। यह चिदाभास हिम अर्थात् बर्फ के समान है, क्योंकि जल की अपेक्षा में यह स्थूल है। जैसे बर्फ गलकर फिर पानी की अवस्था में आ जाती है, वैसे ही अन्त:करण में जो चिदाभास है, वह फिर लीन होने पर चिन्मात्र हो जाता है अर्थात् जीव ब्रह्म के रूप में आ जाता है।

भली भई जु भै पड्या, गई दसा सब भूलि।
पाला गलि पानी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि॥72॥

यह बहुत अच्छा हुआ कि मैं अपनी सांसारिक दशा को भूल गया और वास्तविक स्वरूप में परिणत हो गया। यह वैसे ही है जैसे हिम परिणत होकर जल हो जाता है और लुढ़क कर किनारे के जल से विलीन हो जाता है।

चौहटै चिंतामणि चढ़ी, हाड़ी मारत हाथि ।
मीराँ मुझसू मिहर करि, इब मिलौं न काहू साथि ॥73॥

जीवन-यात्रा में मैं उस चौराहे पर पहुँच गया हूँ जहाँ प्रभु से साक्षात्कार हो गया है। परन्तु अंतर्मन में स्थित काम, क्रोध, मोह रूपी डाकू मेरी उस अमूल्य निधि को छीन लेना चाहते हैं। हे दया के सागर मेरे ऊपर दया करो जिससे अब मैं इन सबों के चक्कर में न पड़ूँ।

पंखि उड़ानी गगन कौं, पिण्ड रहा परदेस ।
पानी पीया चंचु बिनु, भूलि या यहु देस ॥74॥

जीव रूपी पक्षी (हंस) कुण्डलिनी के सहारे सहस्रार तक उड़ गया अर्थात् परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया और यह भौतिक शरीर अपने स्थान पर यों ही पड़ा रहा, जो कि अब उस जीव के लिए परदेश-सा हो गया है। जब जीव

को परमतत्त्व का अनुभव नहीं था, तब उसके लिए शरीर स्वदेश और परमतत्त्व परदेश था। अब परमतत्त्व स्वदेश हो गया और शरीर परदेश हो गया। उसने इन्द्रियों के बिना ही आनन्द रस का पान किया और सांसारिक दशा को भूल गया अर्थात् इससे अब उसकी आसक्ति जाती रही।

सुरति समानी निरति मैं, अजपा माँहै जाप ।
लेख समानां अलेख मैं, यौं आपा माँहै आप ।।75।।

साधना की प्रगति में साधक स्थूल से सूक्ष्म, शब्द से अशब्द, प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष, साकार से निराकार, ससीम से असीम, अहंकार से निरहंकार की ओर बढ़ता चला जाता है और जब वह अशब्द, निराकार, अप्रत्यक्ष और निरहंकार अवस्था पर पहुँचता है, तब उसे ब्रह्म-तत्त्व का वास्तविक दर्शन होता है।

आया था संसार में, देखन कौ बहुत रूप ।
कहै कबीरा संत हो, परि गया नजरि अनूप ।।76।।

कबीर कहते हैं कि हे संतो ! मैंने संसार में अनेक रूप देखने के लिए जन्म लिया था, परन्तु इन्हीं रूपों के भीतर अनुपम तत्त्व, जो अरूप हैं, मेरी दृष्टि में पड़ गया अर्थात् मुझे अनुपम तत्त्व का दर्शन हो गया।

धरती गगन पवन नहिं होता, नहिं तोया नहिं तारा ।
तब हरि हरि के जन हते, कहै कबीर विचारा ।।77।।

कबीर कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व पृथ्वी, आकाश, पवन, जल, अग्नि ये पाँचों तत्त्व नहीं थे। उस समय केवल हरि ओर उनके भक्त (जीव), अंशी और अंश ही थे।

जा दिन किरतम नां हता, नहीं हाट नहिं बाट ।
हुता कबीरा राम जन, जिन देखा औघट घाट ।।78।।

जिस समय यह सृष्टि नहीं थी, संसार रूपी बाजार नहीं था, उस समय केवल रामभक्त आदि गुरु कबीर था, जिसको लक्ष्य तक पहुँचने के कठिन और दुर्गम मार्ग का ज्ञान था।

थिति पाई मन थिर भया, सतगुरु करी सहाइ ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ ।।79।।

सद्गुरु की कृपा से मैं तत्त्व में प्रतिष्ठित हो गया और मेरा मन अब स्थिर हो गया है, उसकी चंचलता जाती रही। मेरे भीतर अनन्य चरितार्थ हो गया और हृदय में भगवान त्रिभुवनपति विराजमान हो गए।

हरि संगति सीतल भया मिटी मोह की ताप ।
निस बासुरि सुखनिधि लहा, (जब) अंतरिप्रगटा आप ॥80॥

अनन्तर में आत्म-दर्शन होने पर प्रभु से तादात्म्य हो गया, मोह की ज्वाला मिट गई और मैं निरन्तर आनन्द-निधि का अनुभव कर रहा हूँ।

तन भीतरि मन मानियाँ, बाहरि कहा न जाइ ।
ज्वाला तै फिरि जल भया, बुझी बलंती लाइ ॥81॥

दर्शन मात्र होने से मन में पूर्ण निश्चय हो गया, संशय हमेशा के लिए समाप्त हो गया। उस स्थिति का मैं शब्द-बयान नहीं कर सकता। मोह की ज्वाला जल में परिणत हो गयी।जलती हुई मोह की आग पूर्ण रूप से बुझ गयी अर्थात् परिचय द्वारा पूर्ण शान्ति आ गयी।

जिनि पाया तिनि सुगहगह्या, रसनाँ लागी स्वादि ।
रतन निराला पाइया, जगत ढंढोल्या बादि ॥82॥

जिन्होंने परम तत्त्व को प्राप्त किया, उन्होंने पूर्ण रूप से हृदय में प्रतिष्ठित कर लिया है, उसके माधुर्य का उन्होंने पूर्ण रूप से आस्वादन किया। उनको एक अनुपम रत्न मिल गया है। वह अब जगत् में और कुछ ढूँढना व्यर्थ समझते हैं अर्थात् परमार्थ के प्राप्त होने पर अन्य अर्थ की क्या आवश्यकता है ?

कबीर दिल साबित भया, पापा फल समरत्थ ।
सायत माँहि ढँढोलता, हीरै पड़ि गया हत्थ ॥83॥

कबीर कहते हैं कि मैं भव-सागर में अपने इष्ट को टटोल रहा था। गुरु कृपा से मेरे हाथ हीरा ही आ गया अर्थात् सर्वोत्कृष्ट इष्ट मुझे प्राप्त हो गया। फिर तो मेरा हृदय परिपूर्ण हो गया और मैंने जीवन का सर्व-अर्थकारी परमोत्कृष्ट सम्यक्-लक्ष्य प्राप्त कर लिया।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाँहि ।
प्रेम गली अति साँकरी, या में दो न समाँहि ॥84॥

मनुष्य में जब तक अहम विद्यमान रहता है तब तक प्रभु दर्शन दुर्लभ होता है। अहम मिटते ही प्रभु से मिलन हो जाता है। प्रेम की यह विशेषता है कि यद्यपि यह प्रारम्भ दो में होता है, तथापि जब तक द्वैत बना रहता है, तब तक उसमें परिपूर्णता नहीं आती।

जा कारणि मैं ढूँढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सक्कौं पाई॥85॥

जिसके दर्शन के लिए मैं परेशान था वह आज मेरे सम्मुख है। परन्तु मैं इस संकोच में पड़ा हूँ कि कितना पाप-पंकिल, क्षुद्र-जीव हूँ और मेरा प्रिय कितना शुभ्र और महान् कि मैं पैर पकड़ने का भी साहस न कर सका।

जा कारणि मैं जाइ था, सोई पाया ठौर।
सोई फिरि आपन भया, जाको कहता और॥86॥

जिसके लिए मैं इधर-उधर भटक रहा था, उसको अपने भीतर ही पा लिया। जिसको मैं अन्य कहता था, अब देखता हूँ कि वही वास्तविक अपना है।

कबीर देखा इक अगम, महिमा कही न जाय ।
तेज पुंज पारस धनी, नैननि रहा समाय ॥87॥

भाग्योदय हुआ उसका साक्षात्कार हुआ, जो अगम था, जिस तक किसी की पहुँच न थी। उसके गौरव और महात्मय का वर्णन असम्भव है। वह ज्योति-पुंज है और अपने स्पर्श से पापी को भी पुण्यात्मा बनाने वाला पारस जैसा सौभाग्य-दायक है। अब वह मेरे नेत्रों में समा गया है अर्थात् मेरी दृष्टि से विलुप्त नहीं होता।

मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं ।
मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं ॥88॥

जीव सुषुम्नामार्ग से पहुँचकर शून्य शिखर पर स्थित अमृत कुंड में केलि कर रहा है और आनन्द रूपी मोती स्वच्छन्द रूप से जी भर कर चुग रहा है। इस आनन्द को छोड़कर वह अन्यत्र सांसारिक विषयों की ओर नहीं जा सकता।

गगन गरजि अमृत चुवै, कदली कँवल प्रकास ।
तहाँ कबीरा बंदगी, कै कोई निज दास ॥89॥

आकाश के गर्जन से वह अनहद नाद जो सहस्रार में नित्य हुआ करता है और वहाँ से अमृत के समान शक्ति का क्षरण होता रहता है। मेरुदण्ड की सुषुम्ना नाड़ी में चक्रों का प्रकाश होता रहता है। कबीर कहते हैं कि इस अपूर्व अनुभूति के प्रत्यक्ष होने पर सिर झुक जाता है अथवा कोई और प्रभु का भक्त हो, जिसे यह अनुभूति हो जाय तो उसका सिर झुक जाएगा।

नींव बिहूनां देहुरा, देह बिहूनां देव ।
कबीर तहाँ बिलंबिया, करै अलख की सेव ॥90॥

शून्य शिखर तक पहुँचने पर जीव को एक ऐसे दिव्य भाव का दर्शन होता है, जिसका सादृश्य स्थूल जगत् में नहीं मिलता। स्थूल जगत् में सुदृढ़ नीव पर बने हुए ईट-पत्थर के देवालय में देव का दर्शन होता है, किन्तु वहाँ पर बिना

किसी नींव के देवालय में देव के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है और वह देव भी निराकार होता है। कबीर उसका अनुभव कर उसमें रम गया और अलक्ष्य सत् की सेवा में लग गया।

देवल माँहे देहुरी, तिल जेता बिस्तार ।
माँहे पाती माँहि जल, माँ है पूजन हार ॥91॥

इसी शरीर रूपी देवालय में प्रवेश करने के लिए देहली विद्यमान है, जिसकी परिधि तिल के समान सूक्ष्म है। इस देवालय में बाहर से जल, पत्र आदि नहीं लाया जाता, भीतर ही पत्र है, जल है और पूजनेवाला भी है।

कबीर कँवल प्रकासिया, ऊगा निर्मल सूर ।
निसि अँधियारी मिटि गई, बाजे अनहद तूर ॥92॥

कबीर कहते हैं कि सहस्रार के प्रकाश का भान हो गया, ज्ञान का सूर्य उदय हो गया, अज्ञान की अँधेरी रात समाप्त हो गई और अनाहत नाद की तुरही बजने लगी।

आकासे मुखि औंधा कुआँ, पाताले पनिहारि ।
ताका जल कोई हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि ॥93॥

गगम-मण्डल में एक सहस्रार रूपी अधोमुख कुआँ है जिसका मुख नीचे की ओर है, पाताल अर्थात् मूलाधार चक्र में पनिहारिन रूपी कुण्डलिनी स्थित है। जब साधना द्वारा वह सुषुम्ना मार्ग से होकर सहस्रार में पहुँचती है, तब शुद्ध जीव उसके अमृत-जल को पीने में समर्थ होता है। इस मूलतत्त्व पर किसी बिरले ने ही विचार किया है अर्थात् इसे कोई बिरला ही समझता है।

सिव सक्ति दिसि को जुवै, पछिम दिसा उठै धूरि ।
जल में सिंह जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि ॥94॥

सिद्धों, नाथ योगियों और कबीर में 'सक्ति' इड़ा का प्रतीक है और 'सिव' पिंगला का। जब मछली रूपी कुण्डलिनी ऊपर सहस्रार तक पहुँच जाती है, तब सिंह रूपी जीव मानसरोवर में अवगाहन करने लगता है। अर्थात् कुण्डलिनी का जागरण तभी संभव होता है, जब इड़ा-पिंगला में स्थित प्राण-अपान वायु तुल्यबल हो जायँ। किन्तु कोई ऐसा विरला ही जीव है जो इस मार्ग का अनुसंधान कर सकता है।

अमृत बरिसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल ।
कबीर जुलाहा भया पारखी, अनुभौ उतर्या पार॥95॥

कबीर कहते हैं कि जब शुद्ध अनाहत नाद का परिचय हो जाता है, तब संकल्प-विकल्पात्मक मन उसी में लय को प्राप्त हो जाता है। हमने उसका परिचय प्राप्त कर लिया है और अपने अनुभव से भव-सागर के पार उतर गये हैं।

ममता मेरा क्या करै, प्रेम उघारी पौलि ।
दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौलि ॥96॥

प्रभु प्रेम ने रहस्य का द्वार खोल दिया। इससे मुझको दयामय प्रभु का दर्शन हो गया। अब ममता मेरा क्या बिगाड़ सकती है? अहं और मम का भाव ही समाप्त हो गया है और भव का कष्ट सुख की चादर बन गया अर्थात् सभी दु:ख आनन्द में परिणत हो गए।

लाँबि॥

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ ।
बूँद समानी समुंद मैं, सो कत हैरी जाइ ॥97॥

जैसे बूँद समुद्र को ढूँढते-ढूँढते जब उसमें मिल जाती है, तब उसका पृथक् अस्तित्त्व नहीं रह जाता है। वैसे ही परम को ढूँढते-ढूँढते मेरा अहं उसी में खो गया और उसका पृथक् अस्तित्त्व समाप्त हो गया। अर्थात् यह जीव जो पहले नाम-रूप को लेकर 'अहं' बना हुआ था, अब प्रभु की खोज में चलते-चलते नाम-रूप से पृथक् होकर प्रभु से तादात्म्य प्राप्त कर लिया है।

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ ।
समुंद समाना बूँद मैं, सो कत हेर्या जाइ ॥98॥

कबीर कहते हैं कि हे भाई सन्तो ! प्रभु को खोजते-खोजते मैं स्वंय खो गया। समुद्र (अंशी) ने बूँद (अंश) को आत्मसात् कर लिया। अब उस बूँद का पृथक् अस्तित्त्व कैसे खोजा जा सकता है ? अर्थात् एक बार प्रभु से आत्मसात् होने के पश्चात उससे विरक्त नहीं हुआ जा सकता।

कबीर साहित्य: कबीर चिंतन

कबीर साहित्य में जहाँ दर्शन, अध्यात्म, ज्ञान, वैराग्य की गूढता मिलती है, वहीं उनके साहित्य में समाज सुधार का शंखनाद भी है। वह दार्शनिक होने के साथ-साथ, समाज सुधारक भी थे। समाज सुधार अर्थात् जन जीवन का उत्थान कबीर के जीवन की साधना थी। सुधार का समन्वित स्वरूप कि उन्होंने भक्ति के आडम्बरों पर चोट की, वहीं अंधविश्वासों, रूढ, प्रथा, परम्पराओं,

अंधविश्वासों पर भी निर्भीकता से लिखा। भक्ति में सुधार, समाज की कुप्रथाओं में सुधार, जीवन के हर क्षेत्र में सुधार, कबीर के जीवन की साधना रही है। कबीर कवि होने के साथ ही साधक थे, दर्शनिक थे, तत्त्वान्वेषी थे, भक्त और ज्ञानी थे। वस्तुतः कबीर का जीवन उच्चतम मानवीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है।

प्रचलित धारणाओं के अनुसार, मस्तमोला संत कबीर रामानन्द जी के शिष्य थे। कबीर की जन्म तिथि में विभिन्न मतमतांतर हैं, पर विक्रमी सम्वत् के अनुसार पन्द्रवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध, सोलहवीं का प्रारम्भ व 1455-56 के आसपास ही इनका जन्मकाल रहा। जन्मस्थान कोई काशी, कोई मगहर तथा कोई बलहरा गाँव आजमगढ के पास मानता है।

कबीर जब हुए देश में उथल-पुथल का समय था। मुसलमानों का आगमन, उनका आक्रमण, राज्य स्थापन और यहीं बस जाना, देश के इतिहास की बडी महत्त्वपूर्ण घटना थी। मुसलमानों का आक्रमण राजनीतिक वर्चस्व कायम करना ही नहीं बल्कि इस्लाम का प्रचार अधिक था। अलग सांस्कृतिक एवं सामाजिक इकाई के रूप में कट्टर विरोधी होकर रहना, हिन्दू समाज को अपने में आत्मसात् करने की भावना से सारा हिन्दू समाज आतंकित एवं भयभीत था। मूर्तियाँ व मंदिर खण्डित होते रहे। इस विषमतापूर्ण समय में हिन्दुओं के समक्ष, अपनी सांस्कृतिक आत्मरक्षा का प्रश्न था। ऐसे में पुनरुत्थान कार्य, साम्प्रदायिक एवं जातीय भावनाओं को सामने रखकर किया जाना सम्भव नहीं था। हिन्दुओं में भी विभिन्न मतमतांतर, पंथ, सम्प्रदाय बन चुके थे, जो हिन्दू समाज में अन्तर्विरोध दर्शाते थे। मानना होगा, ऐसी विपरीत स्थितियों के समय में जब हिन्दू संस्कृति, धर्म, जाति को झकझोर दिया गया था-कबीर की समन्वय साधना ने, समाज में पुनरुत्थान का कार्य किया। पुनरुत्थान भक्ति साधना से ही सम्भव था। कबीर का साहित्य इस बात का साक्षी है।

कबीर के पहले तथा समसामयिक युग में भक्ति साधनाओं में सबसे प्रमुख भक्ति साधना ही है। भक्ति आन्दोलन ने भगवान की दृष्टि में सभी के समान होने के सिद्धान्त को फिर दोहराया। कबीर की भक्ति भावना तथ्य से जुड़ी है। भक्तिपथ में भक्ति के द्वारा प्राण स्पंदन देने वालों में कबीर भी प्रमुख हैं। अनेकानेक साधनाओं के अन्तर्विरोध के युग में कबीर जन्मे थे। कबीर के व्यक्तित्व को सभी अन्तर्विरोधों ने प्रभावित किया, इस पर कबीर ने समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया। कबीर में परिस्थितिजन्य निर्णय की अभूतपूर्व क्षमता थी। वह

आत्मचिंतन से प्राप्त निष्कर्षों को कसौटी पर कसने में कुशल थे। कबीर ने मानवतावादी तत्त्वग्राही व्यक्तित्व से अपने दृष्टिकोण में मजहबी, वर्गगत अहंकार तथा आचार संहिता की जडकारा में उलझा देने वाले तत्त्वों को भुला त्याग दिया। कबीर नैतिकता से विकसित भगवत्प्रेम में मानव कल्याण समझते हैं। कबीर की दृष्टि में यही मानवता का मूल आधार है। कबीर जीवन का चरम लक्ष्य परम तत्त्व की प्राप्ति मानते हैं। इस तत्त्व को प्राप्त करने का प्रमुख साधन ज्ञान और प्रेम है। कबीर के अनुसार ज्ञान से मतलब शास्त्र ज्ञान के अहंकार से मुक्त व्यक्ति को सहज रूप से ज्ञान होता है। ऐसे ही प्रेम का सहज रूप ही कबीर को मान्य है। कबीन ने आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं साधना के स्तर पर समन्वय का संदेश दिया है। कबीर संत हैं-भक्त हैं। कबीर ने अपने साहित्य में, भक्ति, प्रेम व सदाचरण से भगवान को प्राप्त करने का संदेश दिया। वस्तुतः कबीर की व्यथा किसी वर्ग विशेष की व्यथा नहीं थी, वह व्यापक मानवता की व्यथा थी। वर्तमान संदर्भों में उन्होंने आज की तरह प्रतिष्ठा दिलाने के लिए साधना नहीं की। क्योंकि कबीर के अनुसार साधना से ही मूलतः मानव व प्राणी मात्र का आध्यात्मिक कल्याण है।

कबीर के अनुसार पिंड और ब्रह्माण्ड से भी परे, निर्विशेष तत्त्व है, वही सबसे परे परम तत्त्व है, जिसका अनुभव होने पर भी वाणी में अवर्णनीय है। वह अलख है, उसे कहा नहीं जा सकता। पिंड और ब्रह्माण्ड से परे का जो तत्त्व है वही हरि है। उसका कोई रूप नहीं, वह घट -घट में समाया है। कबीर ने इस तत्त्व को कई नामों से व्यक्त किया है। अलख, निरंजन, निरर्भ, निजपद, अभैपद, सहज, उनमन तथा और भी। "गुन में निरगुन, निरगुन में गुन हैं बाट छाड क्यों जहिए। अजर अमर कथै सब कोई अलख न कथणां जाई।।" इसी चिंतन में कबीर कहते हैं-"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है-बाहर भीतर पानी। फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तत कथौ गियानी।।" तथा-"पानी ही से हिम भया हिम है गया बिलाई।।"

प्रेम साध्य भी है-साधन भी। प्रेम स्वयं ही प्रेम का वरण करता है। अर्थात् केवल प्रेम के अनुग्रह से प्रेम प्राप्त होता है। प्रेम लौकिक, अलौकिक दोनों स्तर पर एक-सा रहता है। प्रेम वस्तुतः आत्मरति रूप है, अहेतुक होता है। आत्मबोध की सहज स्थिति आत्मरति है। कबीर ने आध्यात्मिक प्रेम को लौकिक माध्यम से व्यक्त किया-"कबीर यह घर प्रेम का खाला का घर नाहिं। सीस उतारे हाथि करि, सो पैसे घर मांहि।।" कबीर का सौन्दर्य ब्रह्म सविशेष ब्रह्म है, इससे उनके

अन्त:करण में भगवान का प्रेम जागा तो कबीर ने कहा, "संतो भाई आई ज्ञान की आंधी रे। भ्रम की टाटी सबै उड़ानी, माया रहे न बाँधी रे।।" कबीर के अनुसार लौकिक और आध्यात्मिक का भेद प्रेम की दिव्यता में बाधक नहीं है।

रहस्यवाद की तीन अवस्थाएँ होती हैं, अनुराग उदय, परिचय, मिलन। कबीर साहित्य में भावनात्मक तथा साधनात्मक दोनों तरह का रहस्यवाद मिलता है। कबीर में भावनात्मक रहस्यवाद की प्रथम अवस्था से ही साधनात्मक रहस्यवाद के भी दर्शन होते हैं। "पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान। कहिये कूँ साोभा नहीं-देख्या ही परमान।।" वह और भी आगे लिखते हैं-"सुरति समांणी निरति में, निरति रही निरधार। सुरति निरति परचा भया तब खुले स्वयं दुवार।।" और भी "जो काटो तौ डहडही, सींचौ तौ कुमिलाइ।।''

कबीर साहित्य में साखी कबीर का जीवनदर्शन है। साखी कबीर साहित्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंश है। साखियों में कबीर का व्यक्तित्व समग्र रूप से व्यक्त हुआ है। "साखी आँखी ज्ञान की समुझि लेहु मनमाहिं। बिनु साखी संसार का झगडा छूटै नाहिं।'' कबीर साहित्य में गुरु का स्थान सर्वोपरि ईश्वर समकक्ष है। कबीर के अनुसार गुरु शिष्य को मनुष्य से देवता कर देता है। "गुरु गोविन्द दोउ खडे-काके लागूं पाय। बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो मिलाय।" सद्गुरु के बारे में कबीर लिखते हैं "ग्यान प्रकास्या गुरु मिल्या, सो जन बीसरि जाइ। जब गोविन्द कृपा करी, तब गुरू मिलिया आई।।" इसके विपरीत अज्ञानी गुरु के बारे में कबीर कहते हैं-"जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध। अंधे अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पडंत।।" आज के संदर्भों में दार्शनिक कबीर की व्यक्त हुई कुछ-कुछ सटीक-सी लगती भावना "नां गुरु मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव। दुन्यूं बूडे धार में-चढ पाथर की नाव।"

जैसे ही सुमिरण को अंग, यानी मनन की अवस्था, विनती को अंग अर्थात् भगवान के समक्ष अपनी लघुता की अनुभूति तथा पति परमेश्वर के भाव की अभिव्यक्ति है। कबीर ने इस तरह 'अंग' के माध्यम में पचासों अंगों के तहत ज्ञान की अभिव्यक्ति हुई है। कबीर पर वैदिक विचारधारा, वैष्णव विचारधारा का प्रभाव था, उन्होंने अपने साहित्य में एकात्मक अद्वैतवाद, ज्ञान तत्त्व, गुरु भक्ति, भगवद्भक्ति, अध्यात्म योग, प्रणवोपासना, जन्मान्तरवाद, भगवान के विविध वैष्णवी नाम, ब्रह्म स्वरूपों मेंश्रम, भक्ति उपासना तथा प्रपत्ति, योग के भेद, माया तत्त्व आदि के माध्यम से काव्य रचना को संजोया। निर्भीक सुधारवादी संत कबीर ने, भक्ति ही क्या हर क्षेत्र में अंधविश्वासों पर चोट कर, रूढ परम्पराओं

आडम्बरों से अलग हट, सामाजिक सुधार भरपूर किया। हिन्दू- मुसलमान दोनों के ही साम्प्रदायिक, रूढग्रस्त विचारों की उन्होंने आलोचना की। अपनी सहज अभिव्यक्ति में कबीर ने लिखा-"कंकर पत्थर जोड के मस्जिद दी बनाय। ता पर मुल्ला बांग दे, बहरा हुआ खुदाय।।" इतना ही नहीं इससे भी बढकर लिखा "दिन में रोजा रखत हो, रात हनत हो गाय। यह तो खून औ बंदगी, कैसे खुशी खुदाय।।" ऐसे ही हिन्दुओं के अंधविश्वासों पर उन्होंने चोट की। धर्म के क्षेत्र में आडम्बरों का कबीर ने खुला विरोध किया। "पाहन पूजे हरि मिले-तो मैं पूजूं पहार। ताते तो चाकी भली, पीस खाय संसार।।" कबीर का दृष्टिकोण सुधारवादी था। उन्होंने बताया "मूंड मुंडाए हरि मिले, सबही लेऊँ मुंडाए। बार-बार के मूंड ते भेड़ न बैकुंठ जाए।।" कबीर ने हिन्दुओं के जप-तप, तिलक, छापा, व्रत, भगवा वस्त्र, आदि की व्यर्थता बताते हुए लिखा-"क्या जप क्या तप संयमी, क्या व्रत क्या अस्नान। जब लगि मुक्ति न जानिए, भाव भक्ति भगवान।।" मरणोपरांत गंगा में अस्थि विसर्जन पर कबीर ने लिखा-"जारि वारि कहि आवे देहा, मूआ पीछे प्रीति सनेहा। जीवित पित्रहि मारे डंडा, मूआ पित्र ले घालै गंगा।।" समाज में कई अस्वस्थ लोकाचारों पर कबीर ने प्रहार किए। वे कहते हैं-यदि मन में छल कपट की गर्द भरी है तो योग भी व्यर्थ है। "हिरदे कपट हरिसँ नहिं सांचो, कहा भयो जो अनहद नाच्यौ।।"

कबीर ने ब्रह्म को करुणामय माना है। ब्रह्म माया, और जीव के सम्बन्ध में कबीर के दार्शनिक विचारों का वर्णन है। कबीर निर्गुणोपासक थे। उन्होंने राम के गुणातीत, अगम्य, अगोचर, निरंजन ब्रह्म का वर्णन किया है। मानना होगा भक्ति आन्दोलन के सुधारवादी भक्त कवियों में कबीर का अपना अलग ही स्थान व नाम है। भगवा वस्त्र पहन कर जंगलों की खाक छानने के पक्ष में कबीर नहीं थे। उन्होंने धर्म एवं भक्ति में दिखावे को त्याग, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा आदि को धर्म परिधि से बाहर रखा। कबीर कहते हैं, "काम-क्रोध, तृष्णा तजै, ताहि मिले भगवान।।" राम अर्थात् उनके ब्रह्म में अपने खुद के समर्पण की चरमसीमा देखने योग्य है। "लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल। लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।" कबीर के बारे में किसी ने यह सही लिखा प्रतीत होता है, "ज्ञान में कबीर परम हंस, कल्पना में योगी, और अनुभूति में प्रिय के प्रेम की भिखारिणी पतिव्रता नारी हो।" कबीर में अतिवाद कहीं भी नहीं। ब्रह्म परमसत्ता को कबीर ने सहजता से सर्वव्यापी बताते हुए कहा-"ना मैं गिरजा ना मैं मंदिर, ना काबे कैलास में। मौको कहाँ ढूंढे बंदे, मैं तो तेरे पास में।।"

कबीर का दृष्टिकोण सुधारवादी ही रहा। कबीर ने किसी धर्म विशेष एवं दर्शन की पताका ऊँची नहीं की। वस्तुतः उन्होंने तो अपने को मानवीय तत्त्वों से सम्बद्ध रखा। धर्म व सुधार के नाम पर कबीर ने जनता को उलझाया नहीं, उन्होंने तो खण्डन कर उलझनों से दूर रखा। जनमानस को अभेद की ओर प्रेरित कर भ्रम-माया से दूर रहने की प्रेरणा दी, इसीलिए कबीर मानवतावादी सुधारक माने जाते हैं। कबीर ने ईश्वर प्रेम, भक्ति व साधना में माया को बाधक माना। कबीर ने कहा माया आकर्षक व मनमोहक है। माया आचरण के कारण ही आत्मा अपने परमात्म रूप को नहीं पहचान पाती। माया ब्रह्म से मिलने नहीं देती। "कबीर माया पापणी, हरि सूं करे हराम। मुख कडया को कुमति, कहने न देई राम।।"

कबीर के काव्य की प्रासंगिकता

काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि कबीर की अभिव्यक्ति अपने परिवेश में स्फूर्त एवं स्वयं अनुभव का परिणाम है। संतों का अनुभव उनके आँखों देखे समाज अथवा इतिहास में से गुजरते हुए संवेदनशील मनुष्य का अनुभव है। वे उपेक्षित, शोषित, बहिष्कृत, अशिक्षित शास्त्रज्ञान से रहित, किन्तु संस्कारवान रचनाकार थे, जो श्रमिक वर्ग से जुड़े हुए थे। कबीर इतिहास की विषम परिस्थितियों में जिए थे। इतिहास की उन विषम परिस्थितियों ने ही इनके व्यक्तित्व को विसंगतियों से लड़ने का साहस प्रदान किया था। चेतना और व्यवहार की निरूतर लड़ाई ने इनकी वाणी को जीवंतता एवं ऊर्जस्विता प्रदान की है।

आज जब आये दिन पुरातन कवियों की प्रासंगिकता का प्रश्न उठता है, तब कबीर की प्रासंगिकता का प्रश्न न उठे ऐसा कैसे हो सकता है। कबीर की प्रासंगिकता को जानने से पहले हमें प्रासंगिकता के अर्थ को जान लेना जरूरी है।

प्रासंगिकता का अर्थ है 'प्रसंगवश सामने आयी हुई बात। ' यहां यह भी प्रासंगिक है 'अथवा' इसी प्रसंग में यह भी है। दूसरे अर्थ में हम प्रासंगिकता की चर्चा तब करते हैं जब रेलैबवैंस की बात सोच रहे होते हैं - और अधिकतर अंग्रेजी शब्द हमारे मन में होते हैं।

काल सन्दर्भ में प्रासंगिकता का निर्णय भी इसी कसौटी पर हो जाता है। विभिन्न युगों में विभिन्न शक्तियां स्वाधीनता का बढ़ाने वाली रही है, इसी के अनुसार उनकी तद्युगीन प्रासंगिकता का निर्णय होता रहा है।

जीवन में प्रासंगिकता और अर्थवता का बोध बनाये रखना यानि प्रासंगिकता को समझना है। हम भविष्य की देहरी पर नहीं, अनुक्षण वर्तमान की देहरी पर है, हम भविष्य के निर्माता नहीं अनुक्षण वर्तमान के निर्माता हैं।

कवि एक जागरूक, संवेदनशीनल प्राणी होता है। अत: वह अपने अतीत और वर्तमान की विभिन्न विचार सारणियों से प्रभावित होता है। कबीर के काव्य में विचार विविध स्तर धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में रखकर परखा जा सकता है। आलोचकों ने कबीर को वैष्णव, वेदान्ती नाथपंथियों से तथा बाधों से प्रभावित माना है। उन्हें रहस्यवादी, समन्वयवादी, समाज – सुधारक मानते हैं। कबीर को किसी एक चौखट के भीतर रखना ठीक नहीं है। ब्राह्म धर्माचारों की आलोचना की है। कबीर साहित्य का सामाजिक पक्ष आज के संदर्भ में प्रासंगिक है। सूत्र – रूप में, विषय प्रवर्तन के रूप में यह सहज रूप से स्थापित किया जा सकता है कि कबीर का काव्य हमारे राष्ट्र के लिए पूर्णत: प्रासंगिक है। यद्यपि कबीर को पैदा हुए साढ़े पांच सौ वर्ष बीतने को हैं, फिर भी कबीर के प्रतिपाद्य की प्रासंगिकता क्षीण नहीं होने पायी है। यों भी कहा जा सकता है कि धरती पर जब सद्भावना सहज जीने का अभ्यासी नहीं होगा, आदर्श मानव को संकल्पना अधूरी रहेगी, तब तक, निसंदेह, कबीर की वाणी प्रासंगिक रहेगी।

कबीर का काल तत्कालीन परिस्थितियों की उपज है। कबीर ने अपने युग में जो देखा और भोगा था उसे उतार दिया। इसलिए यह कहना होगा कि आज भक्तिकालीन कवियों में कबीर का काल तुलसी से अधिक निकट पाते हैं। सही अर्थ में जाने तो कबीर के पास सत्यान्वेषी दृष्टि थी। वे समाज में होने वाली विकृतियों की निंदा करते हैं। कबीर की वाणी हृदय की गहन अनुभूतियोगं की वाणी है। वे अनुभूति पर बल देते हैं तथा पुस्तक ज्ञान का विरोध करती हैं। कबीर ने आत्म – ज्ञान पर बल दिया। कबीर की राह अपनी राह है। कबीर की साधना मन और शरीर की साधना है। कबीर कहते हैं –

"सुखिया सब संसार है, खाये अरू सौवै।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरू रोवै॥"

कबीर की साधना जागने की और रोने की साधना है अज्ञानी लोगों को नींद से जगाना चाहते हैं।

कबीर ने अपने काव्य में जातिगत भेदभाव का विरोध किया और कहा कि भक्ति करने वाला साधक ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। कबीर ने व्यक्ति की

पहचान जाति आधारित न करके उसके गुणों और नैतिकता के आधार पर पहचानने की वकालत की है। यह विचार आज के संक्रमण कालीन युगीन परिस्थितियों में भी सर्वथा सटीक बैठता है –

"एक बूंद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जाति थै सब उपजा कौ ब्राह्मन कौन सूदा।।"

कबीर जी मानते हैं कि खुदा मस्जिद में न ईश्वर मन्दिर में है। मस्जिद के भीतर चिल्लाने से खुदा नहीं मिलता और ना ही मन्दिर में पत्थर पूजने से हरि मिलता है। कबीर ने ब्राह्म आडम्बरों का विरोध किया है और हिन्दू और मुसलमान को एक माना है। वे दोनों के धार्मिक आडम्बरों का खण्डन करते हुए कहते हैं –

"इनके काजी – मुला, पीर – पैगम्बर, रोजा – पछिम – निवाजा
तुरूक मसीति देहुरै हिन्दू, दुहंठा राम खुदाई
कहै कबीर दास फकीरा, अपनी रटि चाल भाई
हिन्दु तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई।।"

कबीर मानव जीवन की भलाई चाहते थे। मानव के प्रति आस्था उनके मन में थी। हिंसा का मार्ग छोड़कर अहिंसा और शांति का संदेश देना चाहते थे। हिंसा करने वालों पर कबीर कठोरता से प्रहार करते हुए कहते हैं कि –

"जस मांस नर की तस मांस पशु की
रूधिर रूधिर एक सारा जी।।"

कबीर बिगड़े हुए समाज को सुधारना चाहते हैं। आज सभी देशों में एक दूसरे के प्रति वैर भाव है। समाज जाति और धर्म के नाम पर टूटकर बिखर रहा है।

कबीर ने मानव धर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा है। उनके अनुसार संसार में गुरू का महत्त्व सर्वोपरि है। गुरू मार्गदर्शक है और संसार में गुरू से बड़ा कोई नहीं है। कबीर सतगुरू की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं –

"बलिहारी गुरू आपनौ द्यौ छाड़ी के बार।
जिनि मानिण तैं देवता, करत न लागी बार।।
सतगुरू की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अंनत उघाड़िया, अंनत दिखावणहार।।"

कबीर का मानना था के गुरू और शिष्य का शारीरिक साक्षात्कार आवश्यक नहीं है। गुरू के साथ मानसिक साक्षात्कार से भी शिष्यत्व का निर्वाह हो सकता है –

"कबीर गुरू बसै बनारसी सिश संमदर तीर
विसरचा नहीं बींसरे जे गुण होई शरीर।।

कबीर ने अपने जीवन का सारा समय अन्धविश्वासों का विरोध करते हुए लगा दिया था। यदि स्वयं उनका हार्दिक विश्वास न होता कि गुरू बनाना आवश्यक है, तो वे किसी के कहने की परवाह न करते। वे गुरू को सर्वोपरि मानते हुए कहते हैं –

"गुरू बिन चेला ज्ञान न लहै।
गुरू बिन इह जग कौन भरोसा, करके संग है रहिए।"

कबीर कहते हैं कि चेतना के सामाजिक होने अथवा रूपान्तरित होने के बाद मन की सम्पूर्ण संकीर्णता समाप्त हो जाती है। इसके लिए कबीर ने आत्म तत्त्व पर बल दिया है। वे कहते हैं –

"लती लहर समुद्र तेती मन की दौर।"

अर्थात् मन की लोभ रूपी लहर को खत्म किये बिना सच्ची साधना सम्पन्न नहीं हो सकती है। कबीर का यह भी मत है कि जब तक मन को नहीं मारा जाता तब तक आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती है। वे कहते हैं –

"मन जाणै सब बात, जाणत ही औगुण करै।
काहे को कुसला, कर दीपक कूँ बै पड़ै।।"

वे हिन्दुओं के द्वारा किए जा रहे मूर्ति पूजा का विरोध करते हुए उसकी हँसी उड़ाते हैं –

"लाडू लावर आपसी पूजा चढ़े अपार।
पूजि पुरारा ले चला दे मूरति के मुख छार।।"

कबीर जीवन यापन की एक सन्तुलित विधि प्रस्तुत करते हैं, जिसे उपदेश के द्वारा नहीं, आचरण के द्वारा अपनाया जा सकता है। वे कहते हैं कि आचरणरहित ज्ञानी ' संसारी ' से भी गया बीता है।

"ग्यानी मूल गँवाइया, आपण भये करंता
ताथै संसारी भला, मन में रहे डरंता।।"

कबीर का मानना था कि जन्म से ही कोई द्विज या शूद्र अथवा हिन्दू या मुसलमान नहीं हो सकता। कबीर ने इसका विरोध करते हुए बड़े ही सीधे, किन्तु मन में जम जाने वाले ढंग से कहा है –

"लौ तूँ बाँभानी बंभगी जाया....।।

...तौ भीतर खतना क्यों न कराया॥"

वर्तमान के झगड़ों को ज्ञान अथवा विचार विवेक की साक्षी से निपटाने वाले कबीर की वाणी मनोवैज्ञानिक, व्यावहारिक और आज के सन्दर्भ में कितनी प्रासंगिक है। वे कहते हैं –

"मैं कहता औ आखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता सुरझावन हारी, तू राख्यो अरूझाई रे॥"

उन्होंने अपने काव्य में छुआछूत का खण्डन इस मार्सिक ढंग से किया है जो आज के युग में उनकी प्रासंगिकता को दर्शाता है। वे कहते हैं –

"काहै की कीजै पाँडे छोति विचार। छोतिहिं ने उपना संसार॥
हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध। तुम्ह कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद॥
छोति छोति करता तुम्हही जाए। तौर ग्रभवास काहे को आय॥
जनमत छोति भरत ही छोति। कहै कबीर हरि की निर्मल जोति॥"

अत: कबीर के विचार – कर्म, कृति – त्याग एक साथ लिपटे हुए हैं। कबीर ने अपने जीवन क परिवर्तन की लड़ाई लड़ी थी। कबीर के लिए राम रहिम एक है, हिन्दू और मुसलमान में कोई भेद नहीं है। उनका मानना है कि उन सभी का सिरजन हरि एक है। सबमें एक ही ज्योति का परसार है। मानव ज्योति की जान से अलग कोई जान नहीं है। कबीर का सिद्धान्त समता का सिद्धान्त है। कबीर एक सच के लिए हजार बार कुर्बान होने के लिए तैयार है। कबीर ने इतिहास को मथा और उसे साक्षी भाव से ढोया है कबीर जिस समय से गुजरे हैं। कबीर का समय सबसे बड़ा गवाह है कबीर की जिन्दगी और वाणी समय के लम्बे अन्तराल को भेदती है।

कबीर-काव्य- मूल्य और प्रासंगिकता

मध्ययुग के सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक परिदृश्य पर हम यदि नजर डाले तो पाते हैं कि इन तीनों ही क्षेत्रों में तत्कालीन परिस्थितियाँ मूल्यों के लिए तरस रही थी। जन-सामान्य समाज, धर्म व राजनीति से निराश हो चुका था।"धार्मिक आडम्बरों और राजनैतिक अव्यवस्थाओं तथा धर्मांधता के कारण समाज का ढांचा विश्रृंखल हो चुका था।" (1) इन विकट परिस्थितियों में तत्कालीन जनमानस के लिए आशा की एक किरण के रूप में कबीर का अवतरण हुआ। जिन्होने न केवल विकृत हो चुके मूल्यों को परिष्कृत किया,

बल्कि समाज, धर्म व राजनीति-इन तीनों के लिए नए मानक मूल्यों की स्थापना की।

कबीर काव्य द्वारा स्थापित मूल्यों का अध्ययन हम निम्नानुसार कर सकते है-

कबीर काव्य द्वारा स्थापित प्रमुख मूल्य

समन्वय- मध्ययुग के समाज के विशृंखल ढाँचे की प्रमुख समस्या समन्वय की कमी ही थी। "इस काल में भारत के सामाजिक वातावरण में समाजवादी भावना का लोप हो चुका था। एक विशाल समाज खण्ड-खण्ड होकर पहले ही समूहों में विभाजित हो चुका था और यह समूह भी आज आर्यकाल की वर्णव्यवस्था के अधीन कार्य नहीं कर रहे थे। इनके मूल में कर्म की अपेक्षा जन्म को प्रधानता दी जाने लगी थी।" (2)

कबीर ने समाज में व्याप्त वैषम्य को दूर करने के लिए अपने काव्य को हथियार बनाया और समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। कबीर के काव्य ने ऐसे मूल्य स्थापित किए जिन्होने तत्कालीन समाज की जाति-भेद, छूत-अछूत और धर्मो की टकराव की समस्या को चुनौती दी। उन्होंने कहा कि-

"एक बूंद एक मूल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उपजा, कौन ब्राह्मन कौन सूदा।" (3)

कबीर ने राम-रहीम की एकता पर बल देते हुए परमात्मा में भी समन्वय स्थापित किया-

"हमारे राम-रहीम-करीमा, केसौ-अलह-राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।" (4)

कबीर ने सभी जातियों, सम्प्रदायों व धर्मो में समन्वय स्थापित करने के लिए प्रत्येक जीव को समान बताते हुए कहा-

"साई के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय।" (5)

कबीर कहते है-

"साधो एक रूप सब माहीं।
अपने मनहिं बिचारि कै देखो और दूसरो नाहीं।।
एकै त्वचा रूधिर पुनि एकै विप्र सूद्र के मांही।"(6)

मानवता-कबीर ने सभी धर्मो की विकृतियों पर प्रहार किया और धर्म के नाम पर मानवता की स्थापना पर बल दिया। "कबीर वर्ग, वर्ण, धर्म, जाति तथा सम्प्रदाय से परे सच्ची इंसानियत के मुरीद थे।" (7)

कबीर ने अपनी कविता से प्रतिपादित किया कि सभी धर्मों का मूल मंत्र मानवता ही है। वे मनुष्य को केवल मनुष्य के रूप में देखने पर बल देते हैं। उन्होने अपनी कविता में मनुष्यत्व पर बल दिया। उनकी इसी विशेषता को रेखांकित करते हुए कहा गया है कि-"कबीरदास अगर केवल आलोचना और प्रश्न करने तक सीमित रहते तो वे अधिक से अधिक असहमति और विरोध के कवि होते, जैसा की कुछ लोग कहते है। लेकिन वे केवल असहमति और विरोध से आगे बढकर समाज में मनुष्यत्व की भावना को विकसित करने और मनुष्य सत्य को प्रतिष्ठित करने के लक्ष्य को सामने रखते हैं।" (8)

बाह्माडम्बर का विरोध-कबीर के समय हिन्दू व मुसलमान दोनो ही धर्मों के मुखिया जनसामान्य में अनेक पाखण्डों, बाह्माचारों, अन्धविश्वासों व कर्मकाण्डों को फैला कर धर्म को संकीर्णता की परिधि में बांध रहे थे। कबीर ने दोनो ही धर्मों के ठेकेदारों की पोल खोलकर बाह्माडम्बरों का डटकर विरोध किया।

कबीर ने मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, तीर्थाटन सहित विभिन्न धार्मिक कृत्यों का विरोध करके समाज में व्याप्त अंधविश्वास के विरुद्ध आवाज उठाई। वे हिन्दू धर्म के बाह्माडम्बरों के विरुद्ध कहते है-

"माला फेरी तिलक लगाया,
लंबी जटा बढाता है।
अंतर तेरे कुफर-कटारी,
यों नहिं साहब मिलता है।।"(9)

तथा

"माथे तलिक हाथ जपमाला, जग ठगने कूं स्वांग बनाया।
मारग छाडि कुमारग उहकै, सांची प्रीत बिनु राम न पाया।।" (10)

कबीर इस्लाम के बाह्माचारों पर लिखते है-

"मुल्ला होकर बाँग जो दैवे,
क्या तेरा साहब बहरा है।" (11)

हिंसा के लिए वे फटकारते हुए कहते है-

"दिनभर रोजा रहत है राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बंदगी, कैसे खुसी खुदाय।।" (12)

कबीर ने दोनो ही धर्मों के आडम्बरों को निशाना बनाते हुए कहा-

" अरे इन दोउन राह न पाई,
हिन्दुवन की हिन्दुवाई देखी, तुरकन की तुरकाई।।" (13)

कबीर के समय मूल्यों के पतन का मुख्य कारण यह कर्मकाण्ड ही था, इसलिए कबीर ने उदात्त मूल्य- स्थापना के लिए कर्मकाण्डों का विरोध आवश्यक समझा। डॉ. रघुवंश लिखते है- "उस समय के समाज का विघटन और उसके मूल्यों की विशृंखलता का मूल कारण यह सारा आचार तथा कर्मकाण्ड रहा है। ऐसी स्थिति में कबीर का पण्डित तथा मूल्ला से बार-बार उनके बारे में प्रश्न करना सहज रहा है। "(14)

निर्मल मन व आचरण की शुद्धता-कबीर धार्मिक आडम्बरो की बजाय मन की निर्मलता तथा आचरण की शुद्धता को महत्त्व देते हैं। " हृदय और मन की शुद्धता तथा निष्कपटता पर कबीर का सहज धर्म आधारित है जिसके लिए न तो बडे-बडे वेद-कुरान, इंजील और बाइबिल के पोथे पढने की आवश्यकता है और न मन्दिर, मस्जिद या गिर्जे में जाकर भजन, पूजन, नमाज इत्यादि में समय नष्ट करने की। मन शुद्ध और हृदय निष्कपट होने पर व्यक्ति के आचरण कभी भी असात्विक और धर्म-विरुद्ध नहीं हो सकते। इसी लिए कबीर ने पहले मन की शुद्धता और हृदय की निष्कपटता पर बल दिया है।" (15)

कबीर बाहरी आडम्बर की बजाय मन को साधने पर बल देते हुए कहते है-

"केसौ कहा बिगाडिया, जे मूढैं सौ बार।
मन को काहे न मूढिए, जामै विषै विकार।।" (16)

वे सिर मुंडाने, तिलक लगाने, माला फेरने, खपरा और सींगी धारण करने को व्यर्थ मानते है। बल्कि सच्चा योगी वह है जो मन पर विजय प्राप्त कर उसे निर्मल बनाता है। मन-साधना के महत्त्व को रेखांकित करते हुए उन्होंने कहा-

" सो जोगी जाके मन में मुद्रा।
रात दिवस न कराई निद्रा।।
मन में आसन मन में रहना।
मन का जप तप मन सूँ कहना।।
मन में खपरा मन में सींगी।
अनहद नाद बजावै रंगी।।
पंच परजारि भसम करि मूका
कहै कबीर सो लहसै लंका।।(17)

कबीर मन की निर्मलता के साथ-साथ आचरण की शुद्धता पर भी बल देते हैं। उन्होने तत्कालीन धार्मिक जटिलताओं और चमत्कारों में भटकी हुई भोली

जनता को कर्मकाण्डों के स्थान पर सदाचरण का मार्ग सुझाया। वे आचरण की शुद्धता को ही सच्चा धर्म मानते थे। वे कुल, जाति, वर्ग व धर्म आदि से व्यक्ति के आचरण को प्रमुख मानते थे-

"ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जे करणी ऊँच न होइ ।"(18)

तथा

"सो हिन्दू सो मुसलमान, जिसका दुरस रहै ईमांन॥"(19)

इस प्रकार हमने देखा कि आचरण की सभ्यता व्यक्ति में स्थापित करने के लिए कबीन ने व्यक्ति के नैतिक उत्कर्ष की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया है।" (20)

प्रेम-कबीर ने अपनी कविता द्वारा भेदभाव मिटाकर प्रेम आधारित मानक धर्म व समाज की प्रतिष्ठा का प्रयास किया।

तत्कालीन सामाजिक व धार्मिक परिस्थितियों की विकटता का एकमात्र उपाय प्रेम ही था। इसलिए कबीर ने प्रेम को महत्त्वपूर्ण बताते हुए कहा-

"पढि पढि के पत्थर भया, लिखि लिखि भया जु ईंट।
कहै कबीरा प्रेम की, लगी न एकौ छींट॥
पोथी पढि पढि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढै सो पंडित होइ॥

यह प्रेम ही सबकुछ है, वेद नहीं, शास्त्र नहीं, कुरान नहीं, जप नहीं, माला नहीं, तस्वीह नहीं, मंदिर नहीं, मस्जिद नहीं, अवतार नहीं, नबी नहीं, पीर नहीं, पैगंबर नहीं। यह प्रेम समस्त बाह्याचारों की पहुँच के बहुत ऊपर है। समस्त संस्कारों के प्रतिपाद्य से कहीं श्रेष्ठ है। जो कुछ भी इसके रास्ते में खडा होता है, वह हेय हैं।" (21)

परोपकार-कबीर ने अपने आचरण और काव्य द्वारा परोपकार को रेखांकित किया। कबीर तत्कालीन स्वार्थ से भरे समाज को परोपकार का पाठ पढाकर उनमें प्रेम, करूणा और दया का प्रसार करना चाहते थे ताकि विशृंखल होता हुआ समाज पुनः एक सूत्र में बंध सके। वे कहते हैं-

"वृक्ष कबहुँ नहीं फल भखै, नदी न संचौ नीर।
परमारथ के कारनै, साधुन धर्यो सरीर॥ " (22)

अर्थात् कबीर का मानना था कि सज्जन व्यक्ति परोपकार के लिए ही शरीर धारण करते हैं।

सहजता–कबीर सहजता पर बल देते हुए सामान्य सहज जीवन को श्रेष्ठ मानते है। कबीर ने कर्मकाण्ड आधारित वैराग्य की बजाय सहज प्रवृति को अपनाने का सन्देश दिया। " वेशभूषा बदलने का नाम कबीर ने वैराग्य नहीं माना। कबीर कहते है कि यदि कोई व्यक्ति तन के स्थान पर मन से बैरागी हो जाता है तो उसे सहज ही सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है–

तन को जोगी सब करै, मन का विरला कोई।
सब सिधि सहजै पाइए, जे मन जेगी होई।" (23)

कबीर ने घर त्यागकर वन में जाने की बजाय घर पर ही सहज साधन के लिए कहा है–

" बनहि बसै का कीजिए, जो मन नहिं तजै विकार।
घर बन समसरि जिनि किया, ते बिरला संसार।। " (24)

कबीर के अनुसार सामान्य व्यक्ति को न आचारों के पालन करने की आवश्यकता थी, न हठ योग, सुरति योग आदि के चक्कर में पडने की। मन पर संयम रखना, गुरू के वचनों पर विश्वास रखना, राम में प्रेम की लगन, सतानाम का जाप करना तथा ईमानदारी से परिश्रम पूर्वक कमाये हुए धन से जीविका चलाना, बस यही सहज मार्ग था। न रोजा न नमाज, न व्रत न पूजा, न वेद न कुरान। बस उक्त सहजमार्ग ही कबीर ने खोज निकाला था।

"संतो सहज समाधि भली। (25)

सत्य–भारतीय संस्कृति का सबसे प्राचीन और प्रमुख जीवन मूल्य सत्य भी कबीर के काव्य में प्रमुखता से है। कबीर ने सत्य को ईश्वर प्राप्ति का प्रमुख साधन घोषित करते हुए कहा–

" साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाकै हिरदै साँच है, ताके हिरदै आप।। " (26)

कबीर ने सत्य को सनातन और अनश्वर माना है। वे मानते है कि सत्य मनुष्य को ईश्वर से जोडने का माध्यम है। कबीर कहते है कि सच्चा व्यक्ति सत्य के आचरण से निर्भय व अमर बन जाता है–

"साँचे शाप न लागई, साँचे काल न खाय।
साँचे को साँचा मिलै, साँचे माहि समाय।।"(27)

क्षमा–कबीर–कालीन समाज घृणा और वैमनस्य से ग्रस्त था। व्यक्ति वर्ग, जाति, सम्प्रदाय व धर्मों में बँटकर आपस में लडता रहता था। तब कबीर ने समाज में सहनशीलता और उदारता का संचार करने के लिए क्षमा पर बल देते हुए कहा–

"क्षमा बडन को चाहिए, छोटन को उत्पात।
कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात।।"(28)

संतोष-कबीर ने लोभग्रस्त व्यक्ति को संतोष का पाठ पढाया। वे संतोष को व्यक्ति के लिए ईर्ष्या, निदा, द्वेष जैसे दुर्गुणों को दूर रखने का साधन मानते थे। कबीर ने संतोष को संसार के सभी धन-ऐश्वर्य से श्रेष्ठ माना-

"गोधन, गज-धन, बाजि-धन, और रतन धन खानि।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि समानि।।"(29)

कबीर ईश्वर से माँगते हुए भी संतोष के साथ कहते हैं-

"साई इतना दीजिए, जितना कुटुंब समाय।
त मैं भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय।।"(30)

अहंकार का दमन-कबीर व्यक्ति के लिए ईश्वर-प्रेम प्राप्ति हेतु अहंकार नष्ट होने को महत्त्वपूर्ण मानते थे। अहंकार के दमन से ही व्यक्ति अपने-पराये, ऊँच-नीच का भेद भूल सकता है और तत्कालीन परिस्थितियों के लिए व्यक्ति में यह भाव जाग्रत होना आवश्यक था। अत: कबीर कहते हैं-

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नांहि।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहि।।"(31)

उस समय के समाज में व्याप्त अहंकार जनित भेदभाव को नष्ट करने के लिए कबीन ने 'मैं' के भाव को ईश्वर प्राप्ति में बाधक घोषित किया और अहंकार का दमन करके प्रेम, अहिंसा, करूणा जगाने का सन्देश दिया।

वाणी का संयम-कबीर ने शब्द को ब्रह्म की संज्ञा देते हुए वाणी के संयम को महत्त्व दिया। कबीर व्यक्ति को मीठी वाणी में बोलने के लिए कहते हैं-

"ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपहु सीतल होय।।"(32)

अर्थात् व्यक्ति ऐसी वाणी बोले कि खुद व श्रोता, दोनो शीतलता का अनुभव करे।

इस प्रकार हम देखते है कि मध्यकालीन समाज, धर्म व सळाा के मूल्यहीन परिदृश्य को कबीर के काव्य ने उदात्त मूल्यों के रंगों से सराबोर कर दिया। कबीन ने अपने काव्य के माध्यम से हर उस मूल्य की स्थापना की जो तत्कालीन परिस्थितियों के लिए आवश्यक था।

कबीर-काव्य द्वारा स्थापित मूल्यों की आधुनिक संन्दर्भो में प्रासंगिकता

कबीर द्वारा प्रतिष्ठित मूल्यों का जब हम अवलोकन करते हैं तो वे हमे आधुनिक सन्दर्भों में भी सर्वथा प्रासंगिक नजर आते है क्योंकि मध्यकाल की परिस्थितियाँ हमें आज भी कहीं-कहीं अपने चारो ओर नजर आती हैं। जिस प्रकार मध्यकाल में समाज व धर्म भ्रमित था, उसी प्रकार आज भी हमारा समाज व धर्म उन्हीं चौराहों पर खडा कबीर के काव्य के मार्गदर्शन का इन्तजार कर रहा है। कबीर ने अपने काव्य से समाज की ऊँच-नीच और धर्म के अन्धविश्वास को जिस प्रकार निशाना बनाया, उसकी आवश्यकता आज भी है।

कबीर द्वारा स्थापित मूल्य आज की विकट परिस्थितियों में अधिक प्रासंगिक बन गए हैं।

वर्तमान में राजनीति ने पुनः धर्म व जाति की खाईयों को गहरा कर दिया है। वोटबैंक की राजनीति ने समाज को मंदिर-मस्जिद के झगड़े में उलझा दिया है। साम्प्रदायिकता का बीज जो कबीर के समय पौधा था, आज वृक्ष बन चुका है। आज भी दोनो धर्मों के ठेकेदार राजनीति के हाथों मोहरा बनकर छोटी सी घटना को साम्प्रदायिक रंग देकर समाज की एकता को खंडित करते रहते हैं। लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष देश में जब ऐसी घटनाएँ होती है, और संत-मौलवी आदि भी जब इनमें नकारात्मक भूमिका निभाते है तब कबीर की वाणी प्रासंगिक हो उठती है-

"राम रहीमा एक हैं, नाम धराया दोय।
कहै कबीर दो नाम सुनि, भर्मि परो मत कोय॥"(33)

रामजन्म-भूमि और बाबरी मस्जिद के नाम पर आज भी हम जब भारतीय संस्कृति की मूल अस्मिता को भूल जाते हैं, तब कबीर हमें चेतावनी देते हैं-

"काशी काबा एक है, दूजा कबहु न होय।
अंतर टाटी कपट की, तातें दीखे दोय॥"(34)

समाज की तरह ही हमारा धर्म भी आज तक आडम्बरों से मुक्त नहीं हो पाया है। विज्ञान की प्रगति भी अंधविश्वास के कुचक्रों को नहीं तोड पायी है। आज हम कितने भी आधुनिक हो चुके हैं, परन्तु फिर भी धर्म के आचरण में छिपे नकली बाबाओं के आडम्बर से भ्रमित होने से बच नहीं पाते हैं। जिस प्रकार कबीर के समय धर्म के ठेकेदार अपनी साधना का ढोंग रचकर समाज में अंध श्रृंद्धा फैला रहे थे और धन के अपहरण में रत थे। वहीं स्थिति आज भी हमें नजर

आती हैं। कबीर ने तत्कालीन हिन्दू तथा मुसलमान पाखण्डी धर्म प्रचारकों को आडे हाथों लिया। कबीर का सारा काव्य धर्म के आचरण में छिपे असत्य का खण्डन व सत्य की स्थापना का प्रयास है। कबीर ने मुक्त कण्ठ से, धर्म के नाम पर होने वाले बाह्याडम्बरों व धर्म के इस विकृत रूप के जिम्मेदार धार्मिकों का विरोध किया। वर्तमान संदर्भ में जब हम धर्म के उक्त विकृत रूप को यदा-कदा अपने आस-पास पाते है तो हमें कबीर की वाणी प्रासंगिक लगती हैं। आज की विज्ञान आधारित सदी में भी हमारे देश में अनेक बाबाओं के प्रभाव में जब जनता धर्म के मूल रूप को भूलकर उनका अंधानुकरण करती है, तो हमें कबीर के ये शब्द राह दिखा सकते हैं-

"साधो, पाँडे निपुन कसाई।
बकरि मारि भेडि को धाए, दिल में दर दन आई।
करि अस्नान तिलक दै बैठे, बिधि सो देवि पुजाई।
आतम मारि पलक में बिनसे, रूधिर की नदी बहाई।
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभा मांहि अधिकाई।
इनसे दिच्छा सब कोई माँगे, हँसि आवै मोहि भाई।।
पाप-कटन की कथा सुनावै, करम करावे नीचा।
बूडत दोउ परस्पर दीखे, गहे बाँहि जय खींचा।
गाय बधै सो तुरक कहावै, यह क्या इनसे छोटे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, कलि में ब्राह्मन खोटो।। (35)

कबीर का काव्य न केवल समाज व धर्म बल्कि व्यक्ति, परिवार व सत्ता के लिए भी वर्तमान में पूर्णतया प्रासंगिक है। कबीर द्वारा स्थापित मूल्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं। इनका आचरण आज भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनुकरणीय है। कबीर द्वारा स्थापित आचरण की शुद्धता, प्रेम, परोपकार, सहजता, सत्य, क्षमा, संतोष, अहंकार का दमन, वाणी का संयम जैसे मूल्यों की आज अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि व्यक्ति के आचरण को मर्यादित करने और समाज की उत्कृष्ठ व्यवस्था के लिए हमारे कानून-नियम भी बेबस नजर आ रहे है। अत: ऐसे माहौल में कबीर का काव्य एक आशा की किरण के रूप में नजर आता हैं। कबीर की वाणी प्रत्येक व्यक्ति की समझ तक सुलभ हो सकती हैं। हम कितने भी आधुनिक हो जाएँ हमें मूल्यों की प्यास बुझाने कि लिए कबीर का आश्रय हमेशा लेना पड़ेगा।

3

रविदास

सतगुरु रविदास जी भारत के उन चुनिंदा महापुरुषों में से एक हैं जिन्होंने अपने रूहानी वचनों से सारे संसार को एकता, भाईचारा पर जोर दिया। आप जी की अनूप महिमा को देख कई राजे और रानियां आपकी शरण में आए। आप ने जीवन भर समाज में फैली कुरीति जैसे जात पात के अंत के लिए काम किया।

आप के सेवक आप को, 'सतगुरु', 'जगतगुरू' आदि नामों से सत्कार करत हैं। आप ने अपनी दया दृष्टि से करोड़ों लोगों का उद्धार किया जैसे मीरा बाई सिकंदर लोधी, राजा पीपा, राजा नागरम। गुरुवर रैदास जी माँ गँगा के परम भक्त थे कहा जाता है कि जब रैदास भक्त की शादी हुई तो उन्होंने माँ गँगा को सरयू में निमंत्रण भेजा था और जिस व्यक्ति को निमंत्रण सौंपा उससे कहा कि अगर माँ गँगा स्वयं अपने हाथों से मेरा निमंत्रण स्वीकार करे तो देना, वो व्यक्ति जैसे ही गंगा के किनारे गया और कहा माँ गँगा भक्त रैदास ने निमंत्रण भेजा है तो माँ गँगा ने स्वयं अपना हाथ माँ गँगा ने निकाला और निमंत्रण लिएया।

रैदास अथवा संत रविदास कबीर के समसामयिक कहे जाते हैं। मध्ययुगीन संतों में रैदास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अत: इनका समय सन् 1398 से 1518 ई. के आस पास का रहा होगा। अंत: साक्ष्य के आधार पर रैदास का चर्मकार जाति का होना सिद्ध होता है-

'नीचे से प्रभु आँच कियो है कह रैदास चमारा'

जीवन परिचय

संत रैदास काशी के रहने वाले थे। इन्हें रामानन्द का शिष्य माना जाता है परंतु अंत:साक्ष्य के किसी भी स्रोत से रैदास का रामानन्द का शिष्य होना सिद्ध नहीं होता। इनके अतिरिक्त रैदास की कबीर से भी भेंट की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं, परंतु उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। नाभादास कृत 'भक्तमाल' में रैदास के स्वभाव और उनकी चारित्रिक उच्चता का प्रतिपादन मिलता है। प्रियादास कृत 'भक्तमाल' की टीका के अनुसार चित्तौड़ की 'झालारानी' उनकी शिष्या थीं, जो महाराणा सांगा की पत्नी थीं। इस दृष्टि से रैदास का समय सन् 1482-1527 ई. (सं. 1539-1584 वि.) अर्थात विक्रम की सोलहवीं शती के अंत तक चला जाता है। कुछ लोगों का अनुमान कि यह चित्तौड़ की रानी मीराबाई ही थीं और उन्होंने रैदास का शिष्यत्व ग्रहण किया था। मीरा ने अपने अनेक पदों में रैदास का गुरु रूप में स्मरण किया है -

'गुरु रैदास मिले मोहि पूरे, धुरसे कलम भिड़ी।
सत गुरु सैन दई जब आके जोत रली।'

रैदास ने अपने पूर्ववर्ती और समसामायिक भक्तों के सम्बन्ध में लिखा है। उनके निर्देश से ज्ञात होता है कि कबीर की मृत्यु उनके सामने ही हो गयी थी। रैदास की अवस्था 120 वर्ष की मानी जाती है।

जन्म

मध्ययुगीन संतों में प्रसिद्ध रैदास के जन्म के संबंध में प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वान् काशी में जन्मे रैदास का समय 1482-1527 ई. के बीच मानते हैं। रैदास का जन्म काशी में चर्मकार कुल में हुआ था। उनके पिता का नाम 'रग्घु' और माता का नाम 'घुरविनिया' बताया जाता है। रैदास ने साधु-सन्तों की संगति से पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। जूते बनाने का काम उनका पैतृक व्यवसाय था और उन्होंने इसे सहर्ष अपनाया। वह अपना काम पूरी लगन तथा परिश्रम से करते थे और समय से काम को पूरा करने पर बहुत ध्यान देते थे। उनकी समयानुपालन की प्रवृत्ति तथा मधुर व्यवहार के कारण उनके सम्पर्क में आने वाले लोग भी बहुत प्रसन्न रहते थे।

व्यक्तित्त्व

रैदास के समय में स्वामी रामानन्द काशी के बहुत प्रसिद्ध प्रतिष्ठित सन्त थे। रैदास उनकी शिष्य-मण्डली के महत्त्वपूर्ण सदस्य थे। प्रारम्भ में ही रैदास बहुत परोपकारी तथा दयालु थे और दूसरों की सहायता करना उनका स्वभाव बन गया था। साधु-सन्तों की सहायता करने में उनको विशेष सुख का अनुभव होता था। वह उन्हें प्रायः मूल्य लिये बिना जूते भेंट कर दिया करते थे। उनके स्वभाव के कारण उनके माता-पिता उनसे अप्रसन्न रहते थे। कुछ समय बाद उन्होंने रैदास तथा उनकी पत्नी को अपने घर से अलग कर दिया। रैदास पड़ोस में ही अपने लिए एक अलग झोपड़ी बनाकर तत्परता से अपने व्यवसाय का काम करते थे और शेष समय ईश्वर-भजन तथा साधु-सन्तों के सत्संग में व्यतीत करते थे। कहते हैं, ये अनपढ़ थे, किंतु संत-साहित्य के ग्रंथों और गुरु-ग्रंथ साहब में इनके पद पाए जाते हैं।

वचनबद्धता

उनके जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं से समय तथा वचन के पालन सम्बन्धी उनके गुणों का ज्ञान मिलता है। एक बार एक पर्व के अवसर पर पड़ोस के लोग गंगा-स्नान के लिए जा रहे थे। रैदास के शिष्यों में से एक ने उनसे भी चलने का आग्रह किया तो वे बोले, 'गँगा-स्नान के लिए मैं अवश्य चलता, किन्तु एक व्यक्ति को आज ही जूते बनाकर देने का मैंने वचन दे रखा है। यदि आज मैं जूते नहीं दे सका तो वचन भंग होगा। गंगा स्नान के लिए जाने पर मन यहाँ लगा रहेगा तो पुण्य कैसे प्राप्त होगा? मन जो काम करने के लिए अन्तःकरण से तैयार हो वही काम करना उचित है। मन सही है तो इस कठौती के जल में ही गंगास्नान का पुण्य प्राप्त हो सकता है।' कहा जाता है कि इस प्रकार के व्यवहार के बाद से ही कहावत प्रचलित हो गयी कि - 'मन चंगा तो कठौती में गंगा।'

शिक्षा

रैदास ने ऊँच-नीच की भावना तथा ईश्वर-भक्ति के नाम पर किये जाने वाले विवाद को सारहीन तथा निरर्थक बताया और सबको परस्पर मिल जुल कर प्रेमपूर्वक रहने का उपदेश दिया। वे स्वयं मधुर तथा भक्तिपूर्ण भजनों की रचना

करते थे और उन्हें भाव-विभोर होकर सुनाते थे। उनका विश्वास था कि राम, कृष्ण, करीम, राघव आदि सब एक ही परमेश्वर के विविध नाम हैं। वेद, कुरान, पुराण आदि ग्रन्थों में एक ही परमेश्वर का गुणगान किया गया है।

'कृस्न, करीम, राम, हरि, राघव, जब लग एक न पेखा।
वेद कतेब कछुरान, पुरानन, सहज एक नहिं देखा॥'

उनका विश्वास था कि ईश्वर की भक्ति के लिए सदाचार, परहित - भावना तथा सदव्यवहार का पालन करना अत्यावश्यक है। अभिमान त्याग कर दूसरों के साथ व्यवहार करने और विनम्रता तथा शिष्टता के गुणों का विकास करने पर उन्होंने बहुत बल दिया। अपने एक भजन में उन्होंने कहा है -

'कह रैदास तेरी भगति दूरि है, भाग बड़े सो पावै।
तजि अभिमान मेटि आपा पर, पिपिलक हवै चुनि खावै।'

उनके विचारों का आशय यही है कि ईश्वर की भक्ति बड़े भाग्य से प्राप्त होती है। अभिमान शून्य रहकर काम करने वाला व्यक्ति जीवन में सफल रहता है जैसे कि विशालकाय हाथी शक्कर के कणों को चुनने में असमर्थ रहता है, जबकि लघु शरीर की 'पिपीलिका' इन कणों को सरलतापूर्वक चुन लेती है। इसी प्रकार अभिमान तथा बड़प्पन का भाव त्याग कर विनम्रतापूर्वक आचरण करने वाला मनुष्य ही ईश्वर का भक्त हो सकता है।

सत्संग

शैशवावस्था से ही सत्संग के प्रति उनमें तीव्र अभिरुचि थी। अतः रामजानकी की मूर्ति बनाकर पूजन करने लगे थे। पिता ने किसी कारणवश उन्हें अपने से अलग कर दिया था और वे घर के पिछवाड़े छप्पर डालकर रहने लगे। ये परम संतोषी और उदार व्यक्ति थे। वे अपने बनाये हुये जूते बहुधा साधु-सन्तों में बांट दिया करते थे। इनकी विरक्ति के सम्बन्ध में एक प्रसंग मिलता है कि एक बार किसी महात्मा ने उन्हे 'पारस' पत्थर दिया जिसका उपयोग भी उसने बता दिया। पहले तो सन्त रैदास ने उसे लेना ही अस्वीकार कर दिया। किन्तु बार - बार आग्रह करने पर उन्होंने ग्रहण कर लिया और अपने छप्पर में खोंस देने के लिये कहा। तेरह दिन के बाद लौटकर उक्त साधु ने जब पारस पत्थर के बारे में पूछा तो संत रैदास का उत्तर था कि जहां रखा होगा, वहीं से उठा लो और सचमुच वह पारस पत्थर वहीं पड़ा मिला।

सत्य

सन्त रैदास ने सत्य को अनुपम और अनिवर्चनीय कहा है। वह सर्वत्र एक रस है। जिस प्रकार जल में तरंग है उसी प्रकार सारा विश्व उसमें लक्षित होता है। वह नित्य, निराकार तथा सबके भीतर विद्यमान है। सत्य का अनुभव करने के लिये साधक को संसार के प्रति अनासक्त होना पड़ेगा। संत रैदास के अनुसार प्रेममूलक भक्ति के लिये अहंकार की निवृत्ति आवश्यक है। भक्ति और अहंकार एक साथ संभव नहीं है। जब तक साधक अपने साध्य के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण नहीं करता तब तक उसे लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

साधना

सन्त रैदास मध्ययुगीन इतिहास के संक्रमण काल में हुए थे। ब्राह्मणों की पैशाचिक मनोवृत्ति से दलित और उपेक्षित पशुवत जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य थे। यह सब उनकी मानसिकता को उद्वेलित करता था। सन्त रैदास की समन्वयवादी चेतना इसी का परिणाम है। उनकी स्वानुभूतिमयी चेतना ने भारतीय समाज में जागृति का संचार किया और उनके मौलिक चिन्तन ने शोषित और उपेक्षित शूद्रों में आत्मविश्वास का संचार किया। परिणामतः वह ब्राह्मणवाद की प्रभुता के सामने साहसपूर्वक अपने अस्तित्त्व की घोषणा करने में सक्षम हो गये। सन्त रैदास ने मानवता की सेवा में अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। सन्त रैदास के मन में इस्लाम के लिए भी आस्था का समान भाव था। कबीर की वाणी में जहाँ आक्रोश की अभिव्यक्ति है, वहीं दूसरी ओर सन्त रैदास की रचनात्मक दृष्टि दोनों धर्मो को समान भाव से मानवता के मंच पर लाती है। सन्त रैदास वस्तुतः मानव धर्म के संस्थापक थे।

धर्म

वर्णाश्रम धर्म को समूल नष्ट करने का संकल्प, कुल और जाति की श्रेष्ठता की मिथ्या सिद्धि सन्त रैदास द्वारा अपनाये गये समन्वयवादी मानवधर्म का ही एक अंग है जिसे उन्होंने मानवतावादी समाज के रूप में संकल्पित किया था। 'जन्म जात मत पूछिये, का जात अरू पात। रविदास पूत सभ प्रभ के कोउ नहि जात कुजात'

भक्ति

उपनिषदों से लेकर महर्षि नारद और शाण्डिल्य ने भक्ति तत्त्व की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। रैदास ने भक्ति में रागात्मिका वृत्ति को ही महत्त्व दिया है। नाम मार्ग और प्रेम भक्ति उनकी अष्टांग साधना में ही है। रैदास की अष्टांग साधना पध्दति उनकी स्वतंत्र व स्वछंद चेतना का प्रवाह है। यह साधना पूर्णत: मौलिक है।

समाज पर प्रभाव

रैदास की वाणी, भक्ति की सच्ची भावना, समाज के व्यापक हित की कामना तथा मानव प्रेम से ओत-प्रोत होती थी। इसलिए उनकी शिक्षाओं का श्रोताओं के मन पर गहरा प्रभाव पड़ता था। उनके भजनों तथा उपदेशों से लोगों को ऐसी शिक्षा मिलती थी जिससे उनकी शंकाओं का सन्तोषजनक समाधान हो जाता था और लोग स्वत: उनके अनुयायी बन जाते थे। उनकी वाणी का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि समाज के सभी वर्गों के लोग उनके प्रति श्रृंद्धालु बन गये। कहा जाता है कि मीराबाई उनकी भक्ति-भावना से बहुत प्रभावित हुई और उनकी शिष्या बन गयी थीं।

'वर्णाम अभिमान तजि, पद रज बंदहिजासु की।
सन्देह-ग्रन्थि खण्डन-निपन, बानि विमुल रैदास की॥'

रचनाएँ

रैदास अनपढ़ कहे जाते हैं। संत-मत के विभिन्न संग्रहों में उनकी रचनाएँ संकलित मिलती हैं। राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों में रूप में भी उनकी रचनाएँ मिलती हैं। रैदास की रचनाओं का एक संग्रह 'बेलवेडियर प्रेस', प्रयाग से प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त इनके बहुत से पद 'गुरु ग्रंथ साहिब' में भी संकलित मिलते हैं। यद्यपि दोनों प्रकार के पदों की भाषा में बहुत अंतर है तथापि प्राचीनता के कारण 'गुरु ग्रंथ साहब' में संग्रहीत पदों को प्रमाणिक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। रैदास के कुछ पदों पर अरबी और फारसी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। रैदास के अनपढ़ और विदेशी भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण ऐसे पदों की प्रामाणिकता में सन्देह होने लगता है। अत: रैदास के पदों पर अरबी-फारसी के प्रभाव का अधिक संभाव्य कारण उनका लोकप्रचलित होना ही प्रतीत होता है।

महत्त्व

आज भी सन्त रैदास के उपदेश समाज के कल्याण तथा उत्थान के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपने आचरण तथा व्यवहार से यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य अपने जन्म तथा व्यवसाय के आधार पर महान् नहीं होता है। विचारों की श्रेष्ठता, समाज के हित की भावना से प्रेरित कार्य तथा सदव्यवहार जैसे गुण ही मनुष्य को महान् बनाने में सहायक होते हैं। इन्हीं गुणों के कारण सन्त रैदास को अपने समय के समाज में अत्याधिक सम्मान मिला और इसी कारण आज भी लोग इन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। संत कवि रैदास उन महान् सन्तों में अग्रणी थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इनकी रचनाओं की विशेषता लोक-वाणी का अद्‌भुत प्रयोग रही हैं जिससे जनमानस पर इनका अमिट प्रभाव पड़ता है।

मधुर एवं सहज संत रैदास की वाणी ज्ञानाश्रयी होते हुए भी ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी शाखाओं के मध्य सेतु की तरह है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी रैदास उच्च-कोटि के विरक्त संत थे। उन्होंने ज्ञान-भक्ति का ऊंचा पद प्राप्त किया था। उन्होंने समता और सदाचार पर बहुत बल दिया। वे खंडन-मंडन में विश्वास नहीं करते थे। सत्य को शुद्ध रूप में प्रस्तुत करना ही उनका ध्येय था। रैदास का प्रभाव आज भी भारत में दूर-दूर तक फैला हुआ है। इस मत के अनुयायी रैदासी या रविदासी कहलाते हैं।

रैदास की विचारधारा और सिद्धांतों को संत-मत की परम्परा के अनुरूप ही पाते हैं। उनका सत्यपूर्ण ज्ञान में विश्वास था। उन्होंने भक्ति के लिए परम वैराग्य अनिवार्य माना जाता है। परम तत्त्व सत्य है, जो अनिवर्चनीय है - 'यह परमतत्त्व एकरस है तथा जड़ और चेतन में समान रूप से अनुस्यूत है। वह अक्षर और अविनश्वर है और जीवात्मा के रूप में प्रत्येक जीव में अवस्थित है। संत रैदास की साधना पद्धति का क्रमिक विवेचन नहीं मिलता है। जहाँ-तहाँ प्रसंगवश संकेतों के रूप में वह प्राप्त होती है।' विवेचकों ने रैदास की साधना में 'अष्टांग' योग आदि को खोज निकाला है। संत रैदास अपने समय के प्रसिद्ध महात्मा थे। कबीर ने संतनि में रविदास संत' कहकर उनका महत्त्व स्वीकार किया इसके अतिरिक्त नाभादास, प्रियादास, मीराबाई आदि ने रैदास का ससम्मान स्मरण किया है। संत रैदास ने एक पंथ भी चलाया, जो रैदासी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत के अनुयायी पंजाब, गुजरात, उत्तर प्रदेश आदि में पाये जाते हैं।

गुरु रविदास (रैदास) का जन्म काशी में माघ पूर्णिमा दिन रविवार को संवत 1398 को हुआ था।उनके जन्म के बारे में एक दोहा प्रचलित है ।

चौदह से तैंतीस कि माघ सुदी पन्दरास । दुखियों के कल्याण हित प्रगटे श्री रविदास। उनके पिता राहू तथा माता का नाम करमा था। उनकी पत्नी का नाम लोना बताया जाता है। रैदास ने साधु-सन्तों की संगति से पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। वे जूते बनाने का काम किया करते थे और उनका व्यवसाय था और उन्होंने अपना काम पूरी लगन तथा परिश्रम से करते थे और समय से काम को पूरा करने पर बहुत ध्यान देते थे।

उनकी समयानुपालन की प्रवृति तथा मधुर व्यवहार के कारण उनके सम्पर्क में आने वाले लोग भी बहुत प्रसन्न रहते थे।प्रारम्भ से ही रविदास

जी बहुत परोपकारी तथा दयालु थे और दूसरों की सहायता करना उनका स्वभाव बन गया था। साधु-सन्तों की सहायता करने में उनको विशेष आनन्द मिलता था। वे उन्हें प्राय: मूल्य लिये बिना जूते भेंट कर दिया करते थे। उनके स्वभाव के कारण उनके माता-पिता उनसे अप्रसन्न रहते थे। कुछ समय बाद उन्होंने रविदास तथा उनकी पत्नी को अपने घर से भगा दिया। रविदास पड़ोस में ही अपने लिए एक अलग इमारत बनाकर तत्परता से अपने व्यवसाय का काम करते थे और शेष समय ईश्वर-भजन तथा साधु-सन्तों के सत्संग में व्यतीत करते थे।

स्वभाव

उनके जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं से समय तथा वचन के पालन सम्बन्धी उनके गुणों का पता चलता है। एक बार एक पर्व के अवसर पर पड़ोस के लोग गंगा-स्नान के लिए जा रहे थे। रैदास के शिष्यों में से एक ने उनसे भी चलने का आग्रह किया तो वे बोले, गंगा-स्नान के लिए मैं अवश्य चलता, किन्तु गंगा स्नान के लिए जाने पर मन यहाँ लगा रहेगा तो पुण्य कैसे प्राप्त होगा? मन जो काम करने के लिए अन्त:करण से तैयार हो वही काम करना उचित है। मन सही है तो इसे कठौते के जल में ही गंगास्नान का पुण्य प्राप्त हो सकता है। कहा जाता है कि इस प्रकार के व्यवहार के बाद से ही कहावत प्रचलित हो गयी कि - मन चंगा तो कठौती में गंगा।

रैदास ने ऊँच-नीच की भावना तथा ईश्वर-भक्ति के नाम पर किये जाने वाले विवाद को सारहीन तथा निरर्थक बताया और सबको परस्पर मिलजुल कर प्रेमपूर्वक रहने का उपदेश दिया।

वे स्वयं मधुर तथा भक्तिपूर्ण भजनों की रचना करते थे और उन्हें भाव-विभोर होकर सुनाते थे। उनका विश्वास था कि राम, कृष्ण, करीम, राघव आदि सब एक ही परमेश्वर के विविध नाम हैं। वेद, कुरान, पुराण आदि ग्रन्थों में एक ही परमेश्वर का गुणगान किया गया है।

कृस्न, करीम, राम, हरि, राघव, जब लग एक न पेखा। वेद कतेब कुरान, पुरानन, सहज एक नहिं देखा।।

चारो वेद के करे खंडौती । जन रैदास करे दंडौती॥

उनका विश्वास था कि ईश्वर की भक्ति के लिए सदाचार, परहित-भावना तथा सद्व्यवहार का पालन करना अत्यावश्यक है। अभिमान त्याग कर दूसरों के साथ व्यवहार करने और विनम्रता तथा शिष्टता के गुणों का विकास करने पर उन्होंने बहुत बल दिया। अपने एक भजन में उन्होंने कहा है-

कह रैदास तेरी भगति दूरि है, भाग बड़े सो पावै। तजि अभिमान मेटि आपा पर, पिपिलक हवै चुनि खावै।

उनके विचारों का आशय यही है कि ईश्वर की भक्ति बड़े भाग्य से प्राप्त होती है। अभिमान शून्य रहकर काम करने वाला व्यक्ति जीवन में सफल रहता है जैसे कि विशालकाय हाथी शक्कर के कणों को चुनने में असमर्थ रहता है जबकि लघु शरीर की पिपीलिका (चींटी) इन कणों को सरलतापूर्वक चुन लेती है। इसी प्रकार अभिमान तथा बड़प्पन का भाव त्याग कर विनम्रतापूर्वक आचरण करने वाला मनुष्य ही ईश्वर का भक्त हो सकता है।

रैदास की वाणी भक्ति की सच्ची भावना, समाज के व्यापक हित की कामना तथा मानव प्रेम से ओत-प्रोत होती थी। इसलिए उसका श्रोताओं के मन पर गहरा प्रभाव पड़ता था। उनके भजनों तथा उपदेशों से लोगों को ऐसी शिक्षा मिलती थी जिससे उनकी शंकाओं का सन्तोषजनक समाधान हो जाता था और लोग स्वत: उनके अनुयायी बन जाते थे।

उनकी वाणी का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि समाज के सभी वर्गों के लोग उनके प्रति श्रद्धालु बन गये। कहा जाता है कि मीराबाई उनकी भक्ति-भावना से बहुत प्रभावित हुई और उनकी शिष्या बन गयी थीं।

वर्णाश्रम अभिमान तजि, पद रज बंदहिजासु की। सन्देह-ग्रन्थि खण्डन-निपन, बानि विमुल रैदास की।।

आज भी सन्त रैदास के उपदेश समाज के कल्याण तथा उत्थान के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपने आचरण तथा व्यवहार से यह प्रमाणित कर

दिया है कि मनुष्य अपने जन्म तथा व्यवसाय के आधार पर महान नहीं होता है। विचारों की श्रेष्ठता, समाज के हित की भावना से प्रेरित कार्य तथा सद्व्यवहार जैसे गुण ही मनुष्य को महान बनाने में सहायक होते हैं। इन्हीं गुणों के कारण सन्त रैदास को अपने समय के समाज में अत्यधिक सम्मान मिला और इसी कारण आज भी लोग इन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं।

रैदास के 40 पद गुरु ग्रन्थ साहब में मिलते हैं जिसका सम्पादन गुरु अर्जुन सिंह देव ने 16 वीं सदी में किया था ।

सतगुरु रविदास जी के पद

अब कैसे छूटे राम नाम रट लागी।
प्रभु जी, तुम चंदन हम पानी, जाकी अँग-अँग बास समानी।
प्रभु जी, तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवत चंद चकोरा।
प्रभु जी, तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती।
प्रभु जी, तुम मोती, हम धागा जैसे सोनहिं मिलत सोहागा।
प्रभु जी, तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै 'रैदासा'।

दोहे

जाति-जाति में जाति हैं, जो केतन के पात।
रैदास मनुष ना जुड़ सके जब तक जाति न जात।।
मन चंगा तो कठौती में गंगा।।
बाभन कहत वेद के जाये, पढ़त लिखत कछु समुझ न आवत ।
मन ही पूजा मन ही धूप,मन ही सेऊँ सहज सरूप।

सामाजिक क्रांति के अग्रदूत संत रैदास

भारतीय संस्कृति अंतर्विरोधों का विचित्र समन्वय है। यहाँ एक ओर तो किसी अछूत को पूजा, उपासना और पठन-पाठन का अधिकार नहीं दिया जाता था, वहीं दूसरी ओर यदि कोई अछूत सिद्धि प्राप्त कर ले तो उसे उदारता से स्वीकार भी कर लिया जाता रहा। मध्यकालीन भारत में संत कवि रैदास इन्हीं अंतर्विरोधों का एक सशक्त उदाहरण हैं। क्रांतिकारी, समाज सुधारक, दार्शनिक, भक्त और कवि जैसी अनेक विशेषताओं से विभूषित उनके व्यक्तित्व को अब तक एक जाति विशेष तक सीमित कर उनकी परिधि को छोटा ही किया गया।

जबकि मध्यकालीन संत कवियों में वे कबीर के बाद सबसे लोकप्रिय संत कवि थे। जिन्हें जयदेव, नामदेव और गुरुनानक जैसे महान संतों की अविरल परंपरा की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में जाना जाता है। आश्चर्य की बात है कि अभी तक भी संत रैदास का जीवनवृत्त विवादास्पद है। उनके समय पर विवाद हो सकता है, किंतु हिंदी साहित्य में तो उनके नाम पर भी विवाद है। डॉ. संगमलाल पांडेय के अनुसार – "रविदास के कुल बारह नाम मिलते हैं।" यथा – "रैदास, रयदास, रुइदास, रुईदास, रयिदास, रोहीदास, रोहीतास, रहदास, रामदास, रमादास, रविदास और हरिदास।" लेकिन सामान्य रूप से प्रचलित नाम रैदास और रविदास ही है।

हिंदी साहित्य में अभी तक रैदास का समय भी विवाद का विषय है। "आचार्य रामचंद्र शुक्ल तो संभवत: आधारभूत सामग्री के अभाव में रैदास के जन्म एवं निर्वाण का कोई भी संवत तय नहीं करते हैं।" सबसे प्रथम "आचार्य परशुराम चतुर्वेदी अनुमान के आधार पर इनका जीवनकाल विक्रम की 15वीं से 16वीं शताब्दी तक पहुँचता हुआ मानते हैं।" डॉ. रामकुमार वर्मा लिखते हैं कि – "ये रामानंद के शिष्य और कबीर के समकालीन थे। अत: इनका आविर्भावकाल कबीर के समय में ही मानना चाहिए, जो संवत 1445 से सं. 1575 है।" ऐसा ही अनुमान "डॉ. राजेंद्र कुमार का भी है।" डॉ. गणपति चंद्र गुप्त भी "रैदास को कबीर का समकालीन मानते हुए उनका समय सं. 1455 से सं. 1575 ही तय करते हैं।" रैदास पर विवेचनात्मक पुस्तकें लिखने वालों में भी मतवैभिन्य देखने को मिलता है। श्री रामानंद शास्त्री एवं वीरेंद्र पांडेय ने सर्वप्रथम रैदास संप्रदाय में प्रचलित विश्वास को आधार मानते हुए लिखा है कि – "संत रविदास का नाम जैसा कि उपलब्ध साहित्य हमें बताता है, परंपरा के अनुसार रविवार के दिन उत्पन्न होने के कारण रखा गया। आज भी अपने देश में यह परंपरा प्रचलित है। अत: हमें इस तथ्य को नि:संकोच स्वीकार कर लेना चाहिए कि संत रविदास रविवार के दिन उत्पन्न हुए थे। जहाँ तक तिथि का संबंध है, सभी रविदासी गद्दियाँ सदियों से माघ पूर्णिमा को ही संत रविदास की जन्म तिथि मानती चली आई हैं। अत: हमें इसे ही मान्यता देनी चाहिए। यदि यह जन्मतिथि और जन्म दिन सही है तो इसके आधार पर संत रविदास का निश्चित जन्म संवत भी ढूँढा जा सकता है। संवत 1441 वि. से लेकर संवत 1454–55 वि. तक जिस वर्ष भी माघ की पूर्णिमा रविवार को पड़ता है, वही रविदास का निश्चित जन्म संवत माना जाना चाहिए।" इसी

कथन को आधार मानते हुए आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद ने पंचांग के अनुसार गणना कर लिखा कि – "हमने पंचांग के अनुसार संवत 1441 से लेकर संवत 1455 तक शोध करके देखा है। रविवार केवल संवत 1443 की माघ पूर्णिमा को पड़ता है। परंतु हम यह जन्म संवत इसलिए मानने को तैयार नहीं है कि उस दिन फाल्गुन का प्रथम प्रविष्ठा न होकर माघ का प्रविष्ठा पड़ता है और दूसरे इस संवत को न तो किसी अन्य विद्वान ने स्वीकार किया और न ही पुरातन रविदासिया संतों ने ही।" आजाद साहब ने अपनी एक अन्य पुस्तक में लिखा है कि – "संत करमदास जी ने गुरु रविदास जी का जन्म, माघ पूर्णिमा संवत 1433 वि. माना है। गणना के अनुसार इस दिन रविवार ही पड़ता है और अन्य किसी भी तिथि को जिन्हें रविदास जी के जन्म दिन से जोड़ा जाता है, रविवार को नहीं पड़ता।"

गुरु रविदास जी के जन्मतिथि के विषय में रविदास संप्रदाय में निम्नलिखित दोहा शताब्दियों से प्रचलित है –

चौदह सौ तैंतीस की माघ सुदी परदास।
दुखियों के कल्याण हित प्रकटे श्री रैदास॥

गुरु रविदास जी का निर्वाण संवत 1584 वि. में हुआ माना जाता है। जिसका आधार श्री अनंतदास वैष्णव द्वारा रचित 'रैदास जी की परचई' (रचनाकाल सं. 1645 वि.) का निम्नलिखित दोहा है –

"पंद्रह सै चउ असी, चीतौरे भई भीर।
जर्जर देह कंचन भई, रवि-रवि मिल्यौ शरीर॥"

संत गुरु रविदास के निर्वाण के संबंध में एक दोहा और प्रचलित है –

"पंद्रहसै चौअसी करि, कृष्ण चौदस चौतमास।
गंभीरी पे ब्रह्मलीन भये स्री रविदास।
पूरम ब्रह्मन सूँ जा मिले ब्रह्मरूप रविदास।
नामदान का गिआन देई कीन्हों जग उजिआस॥"

रैदास का जन्म किस स्थान पर हुआ यह भी पर्याप्त विवाद का विषय रहा है। इस विवाद की ओर संकेत करते हुए डॉ. पद्म गुरुचरन सिंह लिखते हैं – "संत रविदास के जन्म स्थान के संबंध में रविदास संप्रदाय के अनुयायियों में मतभेद है। कोई इनका जन्म स्थान पश्चिमी उत्तर प्रदेश बतलाता है तो कोई गुजरात और राजस्थान। इसी तरह कुछ लोगों की धारणा है कि संत जी का जन्म स्थान राजस्थान में मेवाड़ का कोई कस्बा रहा होगा। कुछ लोग इन्हें राजस्थान

में मांडवगढ़ का निवासी सिद्ध करते हैं।" इस विवाद का कारण हमें 'रैदास रामायण' की निम्न पंक्तियाँ प्रतीत होती है –

काशी ढिग माडुर स्थाना, शुद वरन करत गुजराना।
माडुर नगर लीन अवतारा, रविदास शुभ नाम हमारा।।

इन पंक्तियों में मांडुर नामक नगर को लोगों ने राजस्थान में स्थिति इसलिए मान लिया क्योंकि रैदास ने अपना देह त्याग राजस्थान में किया था और वह काशी (वाराणसी) के पास वाले अंश को नजरअंदाज कर गए।

डॉ. काशीनाथ उपाध्याय रैदास का जन्म स्थान सीर गोवर्धनपुर को भी मानने की बात कहते हैं। वे लिखते हैं कि – "आदि धर्म मिशन मतावलंबी श्री बंताराम होरा की नई खोज के आधार पर कुछ आधुनिक विद्वान अब यह मानने लगे हैं कि रविदास जी का जन्म बनारस के पास की एक छोटी सी बस्ती सीर गोवर्धनपुर में हुआ था।" उन्होंने श्री धेरा द्वारा 1964 ई. में इसी स्थान से किसी प्राचीन पांडुलिपि के प्राप्त करने का भी उल्लेख किया है। इस विवरण का आधार उन्होंने श्री वीरेंद सेठी द्वारा लिखित – 'मीरा प्रेम दीवानी' पुस्तक को माना है, इसमें यह उल्लेख है – "हाल ही में कुछ विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि रैदास का जन्म सीर गोवर्धनपुर गाँव है जो बनारस से लगा हुआ है। 1971 में रविदास का स्मारक मंदिर बनाया गया, जिसका उद्घाटन बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के उप कुलपति ने किया।" मेरे विचार से यह वहीं मंदिर है जो बनारस में बनाया गया। यह खोज भी रैदास के जन्म स्थान को बनारस के पास ही होने को प्रमाणित करती है। रैदास का जन्म काशी के पास ही हुआ इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं अपनी वाणी में किया है –

मेरी जाति कुटवांढला ढोर ढोवन्ता।
नितहि बनारसी आस-पासा।
जाके कुटुंब के ढेढ सभ ढोर ढोढ़त।
फिरहि बनारसी आस-पासा।।
आचार सहित विप्र कराहिं डंडउति।
तिन तैन रविदास दासान दासा।।

रैदास के जन्म स्थान के बाद अब हम जाति की बात करते हैं। अंततः और वाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित हो चुका है कि रैदास जाति से चर्मकार थे। उन्होंने अपनी वाणी में बार-बार स्वयं को चमार घोषित किया है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं –

नागर जनाँ मेरी जाति विखियात चमार।
रिदै राम गोविंद गुन सार॥
कह रैदास खलास चमारा।
जो सहरू सो मीतु हमारा॥
मेरी जाति कमीनी पॉति कमीनी ओच्छा जनमु हमारा।
तुम सरना गति राजा रामचंद्र कहि रैदास चमार॥

चमार जाति उत्तर प्रदेश ही नहीं संपूर्ण भारत में अछूत समझी जाती थी, जिसमें उत्पन्न व्यक्ति को दूसरी उच्च जातियों में उत्पन्न व्यक्ति, छूना तक पाप समझते थे। इसका उल्लेख रैदास ने अपनी साखी में इस प्रकार किया है –

"रैदास तू काँवचि फली, तुझहुँ न छिवे कोइ।"

इस घृणा का कारण शायद यह हो कि इस जाति के लोग मृत पशुओं को ढोने, उनकी खाल निकालकर जूता बनाने का काम ही नहीं करते थे, बल्कि मृत पशुओं का मांस भी खाते थे। अपनी वाणी में रैदास ने अपने परिवार के लोगों का बनारस के आसपास मृत पशुओं को ढोने का उल्लेख किया है –

जाकै कुटुंब के ढेढ़ सभ ढोर ढोवंत।
फिरहि बनारसी आस-पासा॥
"मेरी जाति कुटवाँढला ढोर ढुवन्ता
नितहि बनारसी आस-पासा॥

वह रैदास जिसने अपनी वाणी में बार-बार 'कह रैदास चमार' और 'कह रैदास खलास चमारा' कहकर स्वयं को चमार घोषित किया है। इसी रैदास की प्रसिद्धि, सिद्धि और लोकप्रियता को देखकर कुछ लोगों ने उन्हें पूर्व जन्म का ब्राह्मण माना है, जिसने ब्राह्मण होकर मांस खाया था, इसलिए उन्हें इस जन्म में चमार के घर जन्म लेना पड़ा। उन्होंने लिखा है –

'पूरब जन्म विप्र ही होता।
मांस न छाड़यो निस दिन श्रोता।
तिहि अपराधि नीच कुल दीना।
पाछला जनम चीन्ही तिन लीना॥

रैदास के वंश संबंधी अधिकतम जानकारी जो अब तक विद्वानों ने बड़े परिश्रम से प्राप्त की है, उसके अनुसार भी पक्के तौर पर रैदास के वंश को निश्चित करना संभव प्रतीत नहीं होता। क्योंकि रैदास संप्रदाय में प्रचलित

जनश्रुतियाँ कुछ और है और हमारे पुरातन साहित्य में उपलब्ध उल्लेख कुछ और है। इस संपूर्ण सामग्री का विवेचन निम्न प्रकार किया जा रहा है –

"भविष्य पुराण' के अनुसार – "मानदासस्य तनयो, रैदास इति विश्रुत:।।"

रैदास के पिता का नाम मानदास दिया गया है। लेकिन 'रैदास की बानी' के संपादक ने उनके पिता का नाम 'रग्घू' दिया है। श्रीमती कला शुक्ला ने भी इसी नाम का उल्लेख किया है। बाद के सभी विद्वानों ने रैदास के पिता का नाम राघवदास या रग्घू ही दिया है।

उनकी माता का नाम श्रैदास की बानी' के संपादक ने 'घुरबिनिया' दिया है। श्रीमती कला शुक्ला ने भी यही नाम माना है। लेकिन संप्रदाय में प्रचलित रैदास की माँ का नाम 'कर्मा' या 'कर्माबाई' है। बाद के विद्वानों ने भी इसी नाम को मान्यता दी है। कुछ विद्वान और रविदासिया धर्म के प्रर्वतकों ने रैदास की माता का नाम 'कलसी देवी' तथा पिता का नाम 'संतोखदास' दिया है। रैदास की एक बहिन के होने का उल्लेख संत कर्मदास ने 'रैदास महिमा' में किया है। जिसका नाम 'रविदासिनी' था। इसके अतिरिक्त इसका उल्लेख और कहीं नहीं मिलता।

रैदास की पत्नी का नाम 'लोना' था। रैदास संप्रदाय में भी यही नाम प्रचलित है और संबंधित साहित्य में भी यही मिलता है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि 'रविदास पुराण' के रचयिता परमानंद स्वामी ने लिखा है कि इनके एक पुत्र भी थे। जिनका नाम 'विजयदास' था। इसके अतिरिक्त इनके पुत्र होने का उल्लेख हमें और कहीं नहीं मिलता है। स्वामी रामानंद शास्त्री ने 'रैदास के पूर्वजों की तालिका' इस प्रकार दी है –

वंश

1. हरिनंद चतरकौर
2. पुत्र
3. राहू या राउ
4. पत्नी
5. करमा
6. पुत्र
7. रैदास

हमारे विचार से रैदास की वंशावली इस प्रकार हो सकती है –

वंश

1. हरिनंद चतरकौर
2. पुत्र
3. राघवदास या रघु
4. पत्नी
5. करमाबाई
6. संतान
7. पुत्र पुत्री
8. रविदास रविदासिनी
9. पत्नी
10. लोना
11. पुत्र
12. विजयदास।

रविदास जी की शिक्षा की बात करें तो उस समय जब कि 'स्त्री शुद्रों न धियताम' के सूत्र का बड़ी मुस्तैदी से पालन किया जाता था, ऐसी स्थिति में किसी शूद्र की औपचारिक शिक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: अपने समकालीन और गुरुभाई कबीर की भाँति "कागद मसि छुऔ नहीं कलम गहौ नहिं हाथ"। जैसी स्थिति रैदास की भी थी। संत कर्मदास ने इस संबंध में ठीक ही लिखा है –

"पंडित गुनी कोई ढिग न बिठाये।
वेद शास्त्र किन्हुँ न पढ़ाये॥
अंतरमुखी जाउ कीन्हों ध्याना।
चारिउ जुगनि का पायो गियाना॥
कागद कलम मसि कछु नाही जाना।
सतगुरु दीन्हो पूरन गियाना॥"

अधिकांश संतों की भाँति रैदास भी बहुश्रुत व्यक्ति थे। उन्होने अपना संपूर्ण ज्ञान सत्संग, भ्रमण और मनन द्वारा अर्जित किया था। जैसा कि डॉ. पद्म गुरुचरण सिंह ने भी लिखा है कि – "इन्हें आध्यात्मिक ज्ञान सत्संग और स्वाध्ययन और व्यक्तिगत अनुभव द्वारा प्राप्त हुआ था।" हमारा विचार है कि किसी भी युग की

शिक्षा का जो उद्देश्य है वह रैदास के जीवन में पूर्णरूपेण फलीभूत हुआ था। उन्होंने 'रहने और कहने की कला' को पूरी तरह से जान लिया था। लेकिन यह सत्य है कि पाठशाला न जा पाने की विवशता में ही उनकी वाणी से यह पद मुखरित हुआ होगा। कहते हैं कि 'हारे को हरिनाम' ही अंतिम शरण है –

"चलि मन हरि चटसाल पढ़ाऊँ।
गुरु की साटि ज्ञान का अक्षर,
बिसरत सहज समाधि लगाऊँ॥
प्रेम की पाटी, सुरति कर लेखनि,
दर्द-मझ लिखि आँक दिखाऊँ॥"

और उन्होंने श्प्रहलाद चरित' में तो स्पष्ट लिखा है कि मैने श्राम के नाम' के अतिरिक्त और कुछ नहीं पढ़ा है –

'हौ पढयौ राम को नाम, ऑन हिरदै नहिं आनौ।
अवर हुँ कछु न जानों, राम नाम हिरदै नहिं छाँड़ो॥'

इससे स्पष्ट है कि रैदास ने राम नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं पढ़ा, तो भी उन्हें वेद, गीता, उपनिषद आदि का अच्छा ज्ञान था। निष्कर्ष के रूप में चौधरी इंद्रराज सिंह के शब्द ही पर्याप्त है। वे लिखते हैं – "यह सत्य है कि तत्कालीन व्यवस्था के कारण और निम्न समझी जाने वाली चमार जाति का होने के कारण उन्हें किसी पाठशाला में बैठकर विधिवत वेद, शास्त्रादि या गुरुमुख से अध्ययन करने का सुयोग मिलना संभव नहीं था, परंतु उनकी वाणी के माध्यम से यह पता चलता है कि उन्हें वेद, उपनिषद, गीता, भागवत, पुराण, आदि विषयों का सार और उनकी विचारधारा का पूर्ण ज्ञान था। यहाँ हम भूल जाते हैं कि वेद या ज्ञान सुनने और मनन करने से प्राप्त होता है। ऋषियों को यह उपलब्धि श्रवण और मनन इन्हीं दो श्रोतों के द्वारा हुई थी। इन संतों को भी ज्ञानोपलब्धि सत्संग के द्वारा हुई थी और वह लगभग मौलिक थी। रैदास ने कृत्रिम अध्ययन को छोड़कर प्रभु की पाठशाला में पढ़ने का प्रयास किया। पुस्तक ज्ञान का बोध न होने के कारण ही इन्हें आत्म ज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुँचने का अवसर मिला था।"

अब हम संत रविदास के सामाजिक चेतना या सामाजिक विचार की बात करें तो सामान्यत: रैदास का समय 15वीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। यह समय ऐसा था, जब भारत पर मुसलमानों के अत्याचारों, अनाचारों की आँधी जोरों पर थी। हिंदुओं की आँखों के सामने उनके देवालय घोषणाएँ करके गिराए जाते

थे, उनके आराध्य देवताओं का अपमान किया जाता था। ऐसे समय में न तो वे विद्रोह ही कर सकते थे और न ही सिर झुकाये बिना जी ही सकते थे। अतः हृदय के आक्रोश को अपनी असहायता, निराशा और दीनता को प्रभु के सम्मुख कहकर मन को शांति देने के अतिरिक्त और रास्ता ही क्या था, तत्कालीन समाज की इस स्थिति को संत रैदास ने वाणी दी है–

"त्राहि-त्राहि त्रिभुवन पति पावन
अतिशय शूल सकल बलि जाऊँ॥"

मध्यकालीन भारत अंधविश्वासों के घनघोर अँधेरे में साँस ले रहा था, कुछ बेबुनियाद रूढ़ियों ने उसमें और सड़न पैदा कर दी थी। रैदास की ख्याति सर्वत्र फैल जाने के उपरांत भी सवर्ण हिंदू उन्हें अछूत ही समझते थे। दूसरा उल्लेख उनके काव्य में यूँ मिलता है -

"रैदास तूँ कॉवचि फली तूझे न छिवै कोय।"

इसके अतिरिक्त भी अपने हृदय के इस दर्द को उन्होंने अपनी वाणी में बड़ी सहजता से व्यक्त किया है-

"हम अपराधी नीच घर जन्में, कुटंब लोग हाँसी रे॥"

लोगों का यह उपहास ही व्यक्ति को अंतर्मुखी कर देता है और यह अपनी निराशा और उपेक्षा को सर्जनात्मक मोड़ देकर सामाजिक रूढ़ियों पर पुनर्चिंतन करता है, तब जाकर कहीं ये रूढ़ मान्यताएँ टूटती है। संत रैदास ने तत्कालीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह किया, इसलिए उन्हें सामाजिक क्रांति का अग्रदूत कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है।

संत कवि रैदास जी ने सर्वप्रथम हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयास किया। उनका कहना था राम और रहिम को एक समझा जाय तथा वेद और कुरान को लोग बराबर सम्मान दें -

"कृष्णा-करीम, राम-हरि, राघव, जब लग एक न पेशा
वेद-कतेब-कुरान-पुरातन सहज एक नहीं वेशा॥"

इसी तरह रैदास जी ने मंदिर-मस्जिद के झगड़े को परम-पिता परमात्मा का धर्म स्थल बताकर हिंदू और मुसलमानों को आपस में न लड़ने की सलाह दी। उनका मत है -

"मंदिर-मस्जिद एक है, इन मॅह अनतर नाहिं।
रैदास राम रहमान का, झगड़ऊ कोउ नाहिं॥

रैदास हमारा राम जोई, सोई है रहमान।
काबा कासी जानि यहि, दोउ एक समान॥"

वर्ण-व्यवस्था जैसे अभिशाप का भी रैदास ने सैद्धांतिक स्तर पर विरोध किया और कहते हैं -

"रैदास एक ही बूँद सौं, सब ही भयों वित्थार।
मूरिख है जो करत हैं वरन अवरन विचार॥
श्रैदास' एक ही नूर ते जिमि उपज्यों संसार।
ऊँच-नीच किहि विध भये, ब्राह्मन और चमार॥"

इसके बाद उन्होंने स्पष्ट घोषणा कर दी कि कोई भी व्यक्ति जन्म के कारण ऊँच-नीच नहीं हो सकता, क्योंकि मनोवांछित जन्म लेना तो किसी के भी बस की बात नहीं। हाँ व्यक्ति के इहि-लौकिक कर्म अवश्य ही उसके श्रेष्ठत्व अथवा निकृष्टत्व को निर्धारित करते हैं -

"रैदास जन्म के कारणै, होत न कोई नीच।
नर को नीच करि डारि हैं, औछे करम की कीच॥"

भारत का दुर्भाग्य रहा है कि यहाँ पर जाति ही व्यक्ति का सामाजिक स्तर निर्धारित करती रही है। उसे ऊँच और नीच माने और मनवाने पर बाध्य करती रही है। संत रैदास इसलिए ऐसी जाति प्रथा को जो व्यक्ति-व्यक्ति को जोड़ती नहीं तोड़ती हो को रोग मानते हैं -

"जात-पाँत के फेर मंहि, उरझि रहई सब लोग।
मानुषता को खात हइ, रैदास जात कर रोग॥"

संत रैदास ने तत्कालीन समाज में प्रचलित इन सड़ी-गली मान्यताओं का विरोध कर वेद विहित मान्यताओं का प्रचार किया -

"जन्म जात मत पूछिए, का जात और पाँत।
'रैदास' पूत सम प्रभ के कोई नहिं जात-कुजात॥"

इसका कारण उनकी दृष्टि में यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी को बनाने वाला वह एक ही 'सिरजनहार' हार है। उस एक ही बूँद का विस्तार यह सारा संसार है। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में उसी परमात्मा का अंश विद्यमान है, फिर किस आधार पर ब्राह्मण को श्रेष्ठ तथा शूद्र को निकृष्ट ठहराया जाए। उन्होंने जड़मति समाज को समझाया–

"एकै माटी के सभै भांडे, सभ का एकै सिरजनहार।
रैदास व्यापै एकौ घट भीतर, सभ को एकै घडै कुम्हार॥

रैदास एकै ब्रह्म का होई रहयों सगल पसार।
एकै माटी सब घट सजै, एकै सभ कूँ सरजनहार॥"

इस प्रकार रैदास ने वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था का विरोध किया। वहीं पर उन्होंने इसकी नई व्याख्या भी प्रस्तुत की। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण ऊँचे कुल में जन्म लेने के कारण नहीं होता, बल्कि ब्राह्मण वह है जिसमें ब्रह्मात्मा विद्यमान हो –

"ऊँचे कुल के कारणै ब्राह्मन कोय न होय।
जउ जानहि ब्रह्म आत्मा, रैदास कहि ब्राह्मण सोय॥"
क्षत्रिय कौन? "दीन-दुखी के हेत जउ वारै अपने प्रान।
'रैदास' उह नर सूर कौ, साँचा छत्री जान॥
वैश्य कौन?
'रैदास' वैस सोई जानिये, जउ सतकार कमाय।
पून कमाई सदा लहै, लौटे सर्वत सुखाय॥
साँची हाटी बैठि करि, सौदा साँचा देई।
तकड़ी तौले साँच की, रैदास वैस है सोई॥"
शूद्र कौन?
'रैदास' जउ अति अपवित, सोई सूदर जान।
जउ कुकरमी असुधजन, तिन्ह ही सूदर मान॥

कहा जा सकता है कि छुआछूत एवं ऊँच-नीच को ही नहीं बल्कि गुरु जी ने मांसाहार, अनैतिकता, के अतिरिक्त धनलिप्सा, दुराचरण जैसे तत्त्वों को असामाजिक बतलाकर एक लंबी क्रांति का सूत्रपात किया। धार्मिक संकीर्णताओं, भेदभावों को भी उन्होंने सर्वथा त्याज्य बतलाया है। क्योंकि वह भेदभाव ही 'वसुधैव कुटुंबकम्' का विरोधी है। इसी ने तो आदमी को आदमी से दूर किया है। मानवीयता के लोकोपकारी सिद्धांतों के प्रसार एवं प्रचारार्थ मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर आदि पूजा स्थानों तथा काबा, काशी, मक्का, मथुरा आदि तीर्थ स्थानों का भी विशेष महत्त्व नहीं है। क्योंकि प्रभु का वास वहाँ नहीं व्यक्ति के हृदय में है –

"का मथुरा का द्वारका, का कासी हरिद्वार।
श्रैदास' खोजा दिल आपना, तउ मिलिया दिलदार॥"

समस्त मिथ्याचारों तथा आडंबरों का संत रैदास ने डटकर विरोध किया। उनकी मान्यता थी कि "मन चंगा तो कठौती में गंगा"। वस्तुतः मन की शुद्धता

ही सर्वोपरि है उन्होंने समस्त बुराइयों पर एक-एक कर सशक्त चोट की। समाज सुधारक के नाते उन्होंने समाज की सही नब्ज को पकड़ा।

उपर्युक्त समस्त विवेचन के उपरांत निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि संत रैदास का जीवन और काव्य उदात मानवता के लिए आवश्यक सदाचारों के शाश्वत सैद्धांतिक मूल्यों का अक्षय भंडार है, जिसमें से प्रत्येक वर्ग और स्थिति तथा मानसिक स्तर पर व्यक्ति अपने लिए सुंदर-सुंदर मोतियों का चुनाव सुगमता से कर सकता है। उन्होंने हिंदू मुसलमानों में भावात्मक एकता स्थापित करने का प्रयास किए। छुआछूत तथा वर्ण व्यवस्था का विरोध कर सामाजिक स्वास्थ्य के लिए अचूक औषधि तैयार की। 'जीवहत्या' को पाप घोषित कर मांसाहारी जैसी प्रवृत्ति को समाप्त करने का प्रयास किया तथा अहिंसा के वैदिक सिद्धांत का प्रचार किया। वहीं पर मानव मात्र को पूजा के साथ-साथ श्रम के प्रति आस्था का भी उपदेश दिया। इससे भी बड़ी बात जो उस युग के और किसी संत कवि के काव्य में दिखाई नहीं देती वह है उनकी "स्वतंत्र चेतना"। उन्होंने तत्कालीन समाज में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शोषण के खिलाफ आवाज उठाई थी। और एक ऐसे समाज की कल्पना की थी जिसमें ये सब विषमताएँ न हों। प्रत्येक व्यक्ति श्रम करके जीविकोपार्जन करे तथा हिंदू तथा मुसलमान सब मिलकर भारत की इस पवित्र भूमि पर रहे तथा दूसरे सर्वांगीण विकास के लिए कार्य करें। इन संपूर्ण तथ्यों पर गंभीरता से विचार करने के उपरांत हम कह सकते हैं कि संत रैदास के काव्य का वैचारिक आधार बहुत दृढ़ तथा उसकी भावात्मक पृष्ठभूमि बहुत ही विस्तृत तथा सामाजिक महत्त्व की है, जिसकी प्रासंगिकता सम-सामयिक संदर्भों में भी असंदिग्ध है।

4

संत काव्य और सूफी काव्य

हिंदी साहित्य के इतिहास में निर्गुण भक्ति के ज्ञानमार्गी भक्तों को संत कवि कहा गया है। इन संत कवियों द्वारा प्रतिपादित काव्य धारा को संत काव्य कहा जाता है। 'संत' से अभिप्राय उस व्यक्ति या व्यक्तियों के उस समूह से है जिसने सत्यरूप परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है और शुद्ध जीवन जीते हुए नि:स्वार्थ भाव से लोक कल्याण में रत है। हिन्दी में 'संत-काव्य' से आशय है। कबीर आदि निर्गुणोपासक ज्ञानमार्गी कवियों द्वारा रचित काव्य। भक्तिकाल की विषम सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में इन संत कवियों ने ज्ञान की आंधी और प्रेम की बारिश के द्वारा जन सामान्य में आशा की ज्योति विखेरने का अतुलनीय कार्य किया। निर्गुण भक्ति के प्रेममार्गी कवियों को सूफी कवि कहा गया है।

संत काव्य परंपरा

संत काव्य परंपरा भक्तिकाल की आरम्भिक काव्यधारा है। इसका संबंध निर्गुण भक्ति से है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे ज्ञानाश्रयी शाखा कहा है। निर्गुण भक्त कवि अधिकांश निम्न जाति के थे। उन्हें मंदिरों में प्रवेश की मनाही थी। ईश्वर से वंचित किये गये इन जातियों ने तब ईश्वर को अपनी कल्पना में गढ़ा, जिसमें ईश्वर के प्रचलित रूप के विरोध की भी भावना थी। इसलिए इस धारा के संत कवियों ने अपनी उपासना का आधार गुणातीत ब्रह्म को बनाया है। संत

काव्य तत्कालीन सामंतवादी और रुढ़िवादी परिवेश में मानवतावादी चेतना की प्रखर अभिव्यक्ति है। यह उस सांस्कृतिक जागरण की सशक्त अभिव्यक्ति है, जो गहरे मानवीय सरोकारों से उपजी है और सार्वभौमिक मानव मूल्यों को प्रतिष्ठापित करता है।

वस्तुतः संत काव्य परम्परा के लिए पृष्ठभूमि बहुत पहले से तैयार हो रही थी। पूर्व में बौद्ध धर्म वज्रयान और सहजयान में परिणत हो गया था। दक्षिण से चला वैष्णव संप्रदाय पूरे देश में प्रभाव जमाने लगा था जिसका नाथ पंथ और अन्य सम्प्रदायों से वैचारिक आदान-प्रदान होने लगा था। इनके बीच में इस्लाम के समानता के सिद्धांत ने अपनी पैठ बनायीं। इन सभी ने संत काव्य के दार्शनिक आधार को तैयार करने में योगदान दिया। शंकराचार्य एवं उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित अद्वैत दर्शन, नाथपंथ, सूफी धर्म एवं इस्लाम दर्शन इन सबों का एकीकृत रूप ही संत काव्य का दार्शनिक आधार है। उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म, जीव, जगत एवं माया के स्वरूप को संतों ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया है। इनका साधना पक्ष शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन की देन है। नाथ पंथ से संतों ने शून्यवाद, योगसाधना, गुरू की महिमा का तत्त्व ग्रहण किया। इस्लाम के प्रभाव से संतों ने एकेश्वरवाद को स्वीकार किया तथा मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद का घोर विरोध किया। सूफी संतों से प्रेम भावना को ग्रहण करने के साथ-साथ दाम्पत्य प्रतीकों का प्रयोग अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति हेतु किया। बौद्धों एवं वैष्णवों से इन्होंने अहिंसावाद को ग्रहण किया। सिद्ध सम्प्रदाय की गूढ़ उक्तियाँ, उलटबांसियाँ, वैदिक परम्पराओं एवं धार्मिक बाह्याचार का विरोध भी संत काव्य में मिलता है।

संत कवियों की परम्परा का आरम्भ बारहवीं शताब्दी में जयदेव से होता है। उनके निर्गुण भाव के पद आदिग्रन्थ में संकलित हैं। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम आदि संत इस परम्परा को आगे बढ़ाते है। इसके बाद कबीरदास के गुरु रामानंद आते है। लेकिन हिंदी में संत काव्य की परंपरा के सूत्रपात का श्रेय कबीरदास को है। रविदास, सेना, पीपा, पद्मावती, सुरसुरी और धन्ना कबीर के गुरु भाई थे। इस परंपरा में आगे चलकर अनेक पंथों की स्थापना हुई। कबीर के अनुयायियों द्वारा स्थापित कबीर पंथ के अतिरिक्त नानक के पंथ, दादू के दादू पंथ और मलूक दास के मलूक पंथ अस्तित्त्व में आते गए। कबीर ने संत मत के निश्चित सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार किया। कबीर से शुरू हुई संत काव्य परंपरा में दादू, गुरु नानक, सुन्दर दास, गरीब दास,

धर्मदास, जगजीवन साहब, जम्भ दास, मलूक दास, हरिदास, चरण दास, गुलाब साहब आदि कवि हुए है।

कबीर, नानक, दादू, मलूक आदि सभी संत कवियों की वाणी जीवन के प्रति आस्था से निकली हुई है, मानवीय सरोकारों से गहरे जुडी हुई है इसलिए वह हृदय की अतल गहराइयों से निकली हुई है। वह "अनभै सांचा" है अर्थात् अनुभव सत्य और अनभय सत्य से युक्त। संत कवियों का मूल्य-बोध सामजिक यथार्थ से उपजा है। जिस परिवेश में संत कवियों ने अपनी पीयूषवर्षिणी वाणी से जन सामान्य को चेतना प्रदान की वह समाज क्षयशील प्रवृतियों से ग्रस्त समाज था। वह अज्ञान, अशिक्षा और अनैतिकता का युग था। जीवन के आदर्शों का पतन होने लगा था, मानवता की भावना का लोप हो चला था, मानवीय सद्वृतियाँ- प्रेम, क्षमा, करुणा, शील, सेवा, त्याग एवं अहिंसा जैसे चिरंतन मूल्य लुप्त प्रायः होने लगे थे। मानव-धर्म जाति, वर्ग, संप्रदाय आदि में विभक्त हो चला था और जन समुदाय भावनात्मक रूप से विखरता जा रहा था। ऐसे परिवेश में अंधकार से प्रकाश की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अधर्म से धर्म की ओर, पशुता से मानवता की ओर, विनाश से सृजन की ओर, और अंत में असीम से ससीम की ओर ले जाने का श्रेय संत कवियों को है। संत-काव्य हमारी संवेदनाओं को मानवीयता से जोड़ता है, मनुष्यता की नयी परिभाषा करता है तथा नया धर्म रचता है। यह नया धर्म ही 'लोकधर्म' है और इसी लोकधर्म के प्रति समूचा संत-काव्य समर्पित है। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं-ष्संत-साहित्य भारतीय जनता के प्रेम, घृणा, आशाओं और वेदना का दर्पण है। वह उसके हृदय की सबसे कोमल, सबसे सबल भावनाओं का प्रतिबिम्ब है। उसकी मानवीय सहजता लौकिक जीवन में आस्था और उज्ज्वल भविष्य की कामना का प्रतीक है।'

संत काव्य की प्रवृत्तियाँ

संत कवियों ने धर्म को उत्तुंग शिखर से उतारकर ठोस जमीन पर लोक जीवन से जोड़ दिया और इसके साथ ही धर्म को मनुष्यता से जोड़कर उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार जिस नूतन मानव धर्म की प्रतिष्ठा की, वह लोकधर्म ही नहीं अपितु विश्वधर्म में परिणत हो गया। संत कवियों ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया और निर्गुण भक्ति का सामंजस्य लोक में स्थापित करने के प्रयत्न किया। इसकी प्रमुख प्रवृतियाँ इस प्रकार है-

निर्गुण ब्रह्म में विश्वास

संत कवियों के उपास्य परं ब्रह्म है जो निर्गुण और निराकार है और जिन्हें केवल ज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए इन्हें ज्ञानमार्गी कहा जाता है। निर्गुण ब्रह्म की एकमात्र सत्ता मानने के कारण संत कवियों ने अवतारवाद और मूर्तिपूजा जैसे साकार और सगुण स्वरूपों को सर्वथा त्याज्य बतायाद्य कबीर के उपास्य 'राम' है लेकिन वे निर्गुण है और दशरथ सुत नहीं है।

"दशरथ सुत तिहूँ लोक बखाना,
राम नाम को मरम है आना॥"

वे अगम, अगोचर और अतीन्द्रिय हैं, लेकिन परम ब्रह्म सर्वत्र मौजूद है। वह घट-घट में विद्यमान है-

"कस्तूरी कुंडली बसे मृग ढूंढे बन माहि"

इस निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति सदगुरु द्वारा दिए ज्ञान द्वारा ही हो सकती है और मायाजाल के आवरण को भेदकर ज्ञान-चक्षुओं को खोला जा सकता है। निर्गुण ब्रह्म के प्रति अनुराग प्रकट करने के लिए इन्होने स्वानुभूति परक आत्म निवेदन और नामस्मरण को ही साधना पद्धति के रूप में स्वीकार किया है। इसके पीछे संत कवियों का उद्देश्य एक ऐसी सामान्य भक्ति पद्धति का प्रचार करना था, जिसमें भेद-भाव की भावना का परिहार हो सके।

सामाजिक चेतना

संत कवियों का मूल्य-बोध सामजिक यथार्थ से उपजा है। संत कवियों का समाज अज्ञान, अशिक्षा और अनैतिकता जैसी क्षयशील प्रवृतियों से ग्रस्त समाज था। मानवीय सद्वृतियाँ प्रेम, क्षमा, करुणा, शील, सेवा, त्याग एवं अहिंसा जैसे चिरंतन मूल्य लुप्त प्राय होने लगे थे। मानव-धर्म जाति, वर्ग, संप्रदाय आदि में विभक्त हो चला था। ऐसे परिवेश में अंधकार से प्रकाश की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अधर्म से धर्म की ओर, पशुता से मानवता की ओर, विनाश से सृजन की ओर, और अंत में असीम से ससीम की ओर ले जाने का श्रेय संत कवियों को है। इस प्रकार संत काव्य में सांसारिक जीवन के व्यापक क्षेत्र को दृष्टि में रखकर मानवीय मूल्यों का निरूपण किया है।

विचार और संवेदना दोनों स्तर पर संत कवि सामाजिक अन्याय का दो-टूक प्रतिरोध करते हैं। संत-काव्य ने शोषित-पीड़ित तथा वंचित जन-समुदाय के बीच आत्म-सम्मान तथा आत्मविश्वास की भावना को जागृत किया । संत

कवियों ने जिस सार्वभौम मानव धर्म की हिमायत की उसमें सभी प्रकार की भेद दृष्टि मिथ्या है। मानव-मानव में भेद इस परम अज्ञान का द्योतक है कि सभी एक परम तत्त्व से उत्पन्न नहीं है -

'एक जोति से सब उत्पन्ना, को बाभन को शूदा'

इसी तत्त्व दृष्टि से संत कवियों ने जाति-पाँति, छुआ-छूत, ऊँच-नीच के भेद का विरोध किया और मानवता की प्रतिष्ठा के लिए भेद बुद्धि के निराकरण को सर्वोच्च प्राथमिकता देते है। संत कवि अपने युग की पीड़ा का साक्षात्कार कर रहे थे। इस पीड़ा के कारण उनका हृदय दु:खी है-

'सुखिया साब संसार है, खावे और सोवेद्य
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवे॥'

उन्होंने धार्मिक मठाधीशों के धार्मिक मनमानेपन, बड़बोलेपन, धूर्तता और दंभ की आलोचना की और इस बात पर बल दिया कि विभिन्न धर्म मतों में प्रचलित कर्मकांडों तथा पूजा-पाठ आदि धर्म की मूल्य दृष्टि के पोषक नहीं हैं।

सद्‌गुरु को महत्त्व

संत कवियों ने निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म के ज्ञान और साक्षात्कार के लिए सदगुरु की महत्ता को स्वीकार किया है। कबीर तो अनंत दृष्टि खोलने वाले गुरु के उपकारों का अनंत मानते है-

'सतगुरु की महिमा अनत, अनत किया उपगार
लोचन अनत उघाड़िया, अनत दिखावणहार'

यह गुरु ही अज्ञान रूपी अंधकार में भटकते हुए के हाथ में ज्ञान रूपी दीपक प्रदान करता है जिससे सहज ही सत्य का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसलिए संत कवियों के गुरु को गोविन्द से बढ़कर माना है क्योंकि गोविन्द को बताने वाला गुरु ही होता है।

'गुरु गोविन्द दोऊँ खड़े काके लागूं पाय
बलिहारी गुरु आपणे, जिन गोविन्द दियो बताय'

रहस्यवाद

निर्गुण एवं और निराकार ब्रह्म की उपासना में रहस्यवाद का होना स्वाभाविक है। शंकर का अद्वैतवाद, सूफियों की प्रेम साधना और नाथों की योग साधना संत काव्य के रहस्यवाद का आधार है। रहस्यवाद के दो प्रकार माने जाते

है- (1) साधात्मक रहस्यवाद (2) भावात्मक रहस्यवाद। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार कबीर आदि संत कवियों में कबीर के साधनात्मक रहस्यवाद है जो स्पष्टत: नाथपंथियों का प्रभाव है। जहाँ कवि योग साधना, कुंडलिनी योग, षटचक्रों आदि का उल्लेख करता है, वहाँ साधनात्मक रहस्यवाद है-

रस गगन गुफा में अजर झरै
अजपा सुमिरन जाप करै

आचार्य शुक्ल ने लक्षित किया है कि "कबीर की वाणी में स्थान स्थान पर भावात्मक रहस्यवाद की जो झलक मिलती है, वह सूफियों के सत्संग का प्रसाद है।" कबीर ने स्त्री और पुरुष का रूपक अपनाकर प्रेम की जो व्यंजना की है उसमें सूफी रहस्यवाद प्रेम-साधना का मर्म ही झलकता है-

"हरि मोर रहता मैं रतन पियरिया
हरि का नाम ले कतक बहुरिया"

संत कवियों अपनी रहस्यवादी भावनाओं को उलटबांसियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

प्रेमलक्षणा भक्ति

संत कवियों पर सूफियों के प्रेम दर्शन का भी प्रभाव पड़ा है। सूफियों की प्रेम पद्धति अभारतीय रही है। फिर भी सूफियों के प्रेम का प्रभाव ग्रहण करते हुए भी संतों ने परमात्मा को प्रियतम माना है, प्रियतमा नहीं, बल्कि स्वयं को प्रियतमा माना है। कबीर अपने प्रेम संबंध को व्यक्त करते हुए कहते है-'हरि मोरा पिउ, मैं हरि की बहुरियाद्य' इस प्रकार पूरे संत काव्य में परमात्मा के साथ पति-पत्नी संबंध के अतिरिक्त उसे पिता, सखा, माता आदि के रूपों में संतों ने देखा है। इसका एक कारण यह भी है कि संत कवि निर्गुण ब्रह्म के उपासक हों, लेकिन वे उपासना के लिए सामाजिक और पारिवारिक संबंधों को ही आधार बनाते है।

अभिव्यंजनात्मक प्रवृत्ति

अधिकांश संत कवि समाज के निचले वर्ग से आये थे जिनके लिए 'मसि-कागद' अस्पृश्य की तरह था। प्राय: सभी संत अशिक्षित थे। वे कविता लिखने के लिए कविता नहीं लिखते थे। उन्होंने कविता को साधन के रूप में अपनाया, साध्य के रूप में नहीं द्य ऐसी स्थिति में उन्होंने अपने समय के समाज

बोलचाल की भाषा को ही अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया जिसमें लोक व्यवहार की सादगी और जीवन्तता है । धर्म-प्रचार हेतु वे भ्रमण करते रहते थे । जिस कारण उनकी भाषा में विभिन्न प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग हुआ । इन्हीं कारणों से इनकी भाषा सधुक्कड़ी या बेमेल खिचड़ी हो गई, जिसमें अवधी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, पूर्वी-हिंदी, फारसी, अरबी, संस्कृत, राजस्थानी और पंजाबी भाषाओं का मेल है । आचार्य शुक्ल इनकी भाषा को सधुक्कड़ी भाषा कहा है। फिर भी संत कवियों का भाषा पर जबर्दस्त अधिकार था। आचार्य द्विवेदी ने तो कबीर को वाणी का डिक्टेटर कहा है। कविताई साध्य नहीं होने के बावजूद संत काव्य अलंकार विहीन नहीं है। उनके काव्य में अलंकार बिना प्रयास के सहज रूप से आ गए है। संतों के काव्य में उपमामूलक और विरोधमूलक अलंकारों की प्रधानता है।

संत कवियों ने अनुभूत सत्य को सहज-सरल और दो टूक शब्दों में से व्यक्त करने के लिए मुक्तक काव्य को अपनायाद्य मुक्तक काव्य के अंतर्गत सबसे अधिक साखी, सबद और रमैनी की रचना हुई। संत कवियों ने अपने सामाजिक-आध्यात्मिक अनुभवों को साखियों में व्यक्त किया है। साखी की रचना अधिकतर दोहा छंद में हुई है। सबद गेय पद है जिसमें संतों ने अपने आत्म-निवेदन को अभिव्यक्त किया है जिसमें राग-रागिनियों का प्रयोग किया गया है। किसी विषय को लेकर दोहा-चौपाई छंद में लिखी गई विवरणात्मक रचनाएँ रमैनी कही जाती है।

संतों ने अपने सामाजिक-आध्यात्मिक अनुभवों को अक्सर प्रतीकों और उलटबांसियों के माध्यम से व्यक्त किया है। संतों ने अपने अनुभव से जान लिया था कि इस दुनिया को सीधे शब्दों में समझाया नहीं जा सकता है क्योंकि दुनिया की गति ही उलटी चल रही है। उलटबांसियों को पहले 'संध्या भाषा' कहा जाता था। 'संध्या भाषा' से तात्पर्य वैसी भाषा से है, जिसका कुछ अर्थ समझ में आता है लेकिन कुछ अस्पष्ट है। उलटबांसी में प्रतीकों का प्रयोग होता है जिनके खुलने पर ही अर्थ स्पष्ट हो पाता है।

'देखि-देखि जिय अचरज होई, यह पद बूझें बिरला कोई।
धरती उलटि अकासै जाय, चिउंटी के मुख हस्ति समाय॥'

संतों ने अक्सर आत्मा, परमात्मा, संसार आदि के लिए कमलिनी, सरोवर, जल, नागिन, समुद्र, कुम्भ, कुत्ता आदि का इस्तेमाल प्रतीक के रूप में किया है।

'जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी
फूटा कुम्भ जल जलहीं समाना, यह तथ कथौ गियानी।'

संत कवियों प्रतीकों और उलटबांसियों का प्रयोग अक्सर नाथों, योगियों और सहजयानी तांत्रिकों को फटकारने के लिए किया करते हैं। उनका लक्ष्य पोथी ज्ञान से दबे पंडित थे क्योंकि उनकी उलटबांसियों के अर्थ पोथियों में नहीं थे। इसलिए पंडितों के अहंकार को ये उलटबांसियाँ तोड़ती हैं, उनके सारे ज्ञान की पोल खोल देती है।

सूफी का तात्पर्य और सूफी काव्य परंपरा

सूफी काव्यधारा निर्गुण भक्ति की दूसरी शाखा है। सूफी काव्य की मूल चेतना प्रेम होने के कारण इसे प्रेममार्गी और प्रेमाख्यानक काव्य के रूप में जाना जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे प्रेमाश्रयी शाखा कहा है। 'सूफी' शब्द के अर्थ को लेकर विद्वानों में मतभेद है। 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति 'सफ' शब्द से मानी गई है जिसका अर्थ है जीवनपर्यंत स्वच्छ और पवित्र जीवन व्यतीत करने वाला। इस प्रकार सूफी उन्हें कहा गया है जो मनसा, वाचा और कर्मणा पवित्र जीवन व्यतीत करते है। कुछ लोगों ने 'सफ' शब्द का अर्थ निष्कपट भाव भी किया है और माना है कि सूफी वह है जो परमात्मा सहित समस्त प्राणियों के प्रति निर्मल भाव रखता है। एक अन्य मत के अनुसार 'सूफी' शब्द 'सोफिया' से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है ज्ञान। इसके अनुसार निर्मल प्रतिभा संपन्न व्यक्ति को ही सूफी कहा जाता है। कुछ विद्वानों ने 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति 'सूफ' से मानी है, जिसका अर्थ है 'ऊन'। इसके अनुसार मोटे सफेद ऊन के बने कपड़े पहनकर परमात्मा के प्रेम मगन रहने वाले फकीर ही सूफी कहलाए। जायसी ग्रंथावली में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि "आरम्भ में सूफी एक प्रकार के फकीर या दरवेश थे, जो खुदा की राह पर अपना जीवन चलाते था, दीनता और नम्रता के साथ बड़ी फटी हालत में दिन बिताते थे। ऊन के कम्बल लपेटे रहते थे।" सूफी परमात्मा को प्रेम का स्वरूप मानते हैं और उसे प्रेम द्वारा पाने की बात कहते हैं । प्रेम की पीर इस साधना का सबसे बड़ा सम्बल है ।

सूफीमत इस्लाम धर्म की एक उदार शाखा है जिसका उदय इस्लाम के अस्तित्त्व में आने के बाद हुआ। सूफियों के चार सम्प्रदाय भारत में मिलते हैं- चिश्ती सम्प्रदाय, सोहरावर्दी सम्प्रदाय (12वीं शती), कादरी सम्प्रदाय (15वीं शती), नक्शबंदी सम्प्रदाय (15वीं शती)। इन सूफी संतों के उच्च विचार, सादा

जीवन और व्यापक प्रेम के तत्त्वों ने भारतीय जन-जीवन को आकृष्ट किया। इन सूफियों के 'अनलहक' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' भारतीय अद्वैतवाद के 'अहम् ब्रह्मास्मि' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' की ही घोषणा है। इसलिए अपने दार्शनिक समानता के कारण सूफी संत भी भारतीय भक्ति आन्दोलन के प्रमुख अंग बन गए। जायसी सूफी काव्य परम्परा के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं, जिनके यहाँ इस काव्य परम्परा का चरमोत्कर्ष दिखाई पड़ता है। इसलिए जायसी को केंद्र में रखकर काव्य परम्परा को दो भागों-जायसी पूर्व सूफी काव्य परम्परा और जायसी बाद सूफी काव्य परम्परा-में विभाजित करके देखा जा सकता है।

जायसी से पूर्व सूफी काव्य की समृद्ध परम्परा पर प्राकृत एवं अपभ्रंश के भारतीय प्रेमाख्यानक काव्यों का असर दिखाई पड़ता है। भारतीय परम्परा में लोकगाथात्मक प्रेम काव्यों-'ढोला मारू रा दूहा', 'सन्देस-रासक' और 'वीसलदेव रासो' की रचना हुई है। सूफी काव्य में भी लोकगाथात्मक प्रेमाख्यानों की ही अभिव्यक्ति हुई है। भारतीय लोकगाथात्मक प्रेम काव्यों से सूफी काव्य के प्रेमाख्यानों का प्रमुख अंतर यह है कि सूफी काव्य मसनवी शैली में रचित है जिसमें लौकिक प्रेम कथाओं (इश्कमजाजी) से अलौकिक प्रेम (इश्कहकीकी) की ओर यात्रा है। इस परम्परा की शुरुआत मुल्ला दाऊद की रचना "चंदायन" (1374 ई.) से होती है। लोरिक और चंदा की प्रेमकथा होने के कारण इसे "लोरिकहा" भी कहा गया है। इसमें भारतीय प्रेमाख्यानों की अनेक प्रवृतियों का निरूपण हुआ है। इसके बाद दामोदर कवि द्वारा रचित "लक्ष्मण सेन पद्मावती" शेख रिजकुल्ला मुश्ताकी की "प्रेमवनजोब निरंजन", नारायण दास की "छिताई वार्ता", कुतुबन कृत "मृगावती", ईश्वर दास रचित "सत्यवती कथा" और चतुर्भुज दास द्वारा रचित "मधुमालती" सूफी काव्य की समृद्ध परम्परा की प्रमुख कड़ियाँ है। स्वयं जायसी ने "पद्मावत" में अपने से पूर्व सूफी काव्य परम्परा का उल्लेख किया है। लेकिन जायसी पूर्व सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में कुतुबन कृत "मृगावती" सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है।

इसके साथ ही सूफी काव्य परम्परा के चरमोत्कर्ष के रूप में जायसी आते है जिनकी "पद्मावत" भारतीय जमीन पर रचित सबसे बड़ी त्रासद कथा मानी जाती है। "पद्मावत" में राजा रत्न सेन और सिंहलगढ़ की राजकुमारी पद्मावती की प्रेम कथा है। इस त्रासद कथा में ''मानुष प्रेम' को ही वैकुंठी प्रेम के रूप स्थापित कर जायसी ने "पद्मावत" रचनात्मक ऊंचाई प्रदान कीद्य "पद्मावत" में प्रेम की पीर की जिस तरह से अभिव्यक्ति हुई है वह सूफी काव्य परम्परा

की अन्यतम धरोहर है। इस काव्य में इतिहास और कल्पना का अद्‌भुत समन्वय हुआ है। जायसी के बाद प्रेम गाथाओं की सूफी परम्परा अनवरत रूप से गतिमान रहती है। जायसी के बाद मंझन ने "मधुमालती", उसमान ने "चित्रावली", जान कवि ने 21 सूफी काव्यों की रचना की। "मधुमालती" में कुनेसर के राजा सूरज भान के पुत्र मनोहर और महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम की कथा है, जिसमें विरह के साथ आध्यात्मिक तथ्यों का सुन्दर निरूपण हुआ है। उसमान की "चित्रावली" सूफी काव्य परम्परा की कथा-रुढियों का अच्छे ढंग से निर्वाह हुआ है। तदन्तर शेख नबी ने "ज्ञानदीप" की रचना की और उसके बाद कासिम शाह ने "हंस जवाहिर" की रचना के द्वारा सूफी काव्य परम्परा को समृद्ध किया। कुछ समय बाद नूर मुहम्मद ने "इन्द्रावती" और "अनुराग बांसुरी" जैसे प्रेम काव्यों की रचना की। इसी परम्परा में निसार कवि ने शामी परम्परा की मूल कथा पर आधारित "युसूफ जुलेखा" की रचना की। इसके अनंतर सूफी काव्य परम्परा को ख्वाजा अहमद ने "नूरजहाँ", शेख रहीम ने "प्रेमरस", हुसैन अली ने "पुहुपावती" जैसे प्रेम काव्यों के द्वारा आगे बढाया। इस सूफी काव्य परम्परा में अनुभूति की सघनता और मार्मिकता से भक्ति काव्य के प्रेम वर्णनों को नवीन दृष्टि प्रदान की । साथ ही सबसे अहम कि सभी सूफी कवियों में धार्मिक संकीर्णता का नामों-निशान तक नहीं है।

सूफी काव्य की प्रवृत्तियाँ

मसनवी शैली

सूफी काव्य धारा के सभी काव्य भारतीय चरितकाव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न होकर फारसी की मसनवी शैली में लिखे गए हैं, जिनमें कथारम्भ के पहले ईश्वरस्तुति, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा और गुरु परम्परा का परिचय दिया जाता है। इसमें कथा सर्गों या अध्यायों में विभक्त नहीं होती, बराबर चली चलती है, केवल स्थान-स्थान पर घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्षक के रूप में रहता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार "इस शैली के पीछे देसी लोक गाथाओं का संस्कार भी देखा जा सकता है, जिनमें शास्त्रीय दृष्टि से कोई विभाजन नहीं, कथा लगातार चलती रहती है।" लेकिन हिंदी काव्यधारा के प्रभाववश सूफी कवियों ने महाकाव्य (प्रबंध) पद्धति को अपनाया । पद्‌मावत में ग्रीष्म-वर्णन, नगर-वर्णन, समुद्र-वर्णन, विरह-वर्णन, युद्ध-वर्णन

आदि भारतीय महाकाव्य शैली में लिखे गए हैं। मसनवी काव्य में जिस प्रकार पाँच-सात छंदों के बाद विराम आता है, यहाँ कुछ चौपाइयों के बाद दोहा रखा गया है । ये बातें पद्मावत, इन्द्रावत, मृगावती इत्यादि सबमें पाई जाती हैं।

प्रेम पद्धति

सूफी कवियों ने प्रेम-चित्रण में भारतीय और फारसी दोनों शैलियों को अपनाया। मसनवी काव्यों में प्रेमिकाओं द्वारा आध्यात्मिक -प्रेम की व्यंजना होती है, यहाँ भी ऐसा ही हुआ है । इन प्रेम गाथाओं में नायक को नायिका की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाया गया है, यह भी फारसी साहित्य का प्रभाव है । सूफी काव्यों में प्रेम गुणश्रवण, चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन आदि से बैठे बिठाए उत्पन्न होता है और नायक या नायिका को संयोग के लिए प्रयत्नवान करता है। आचार्य रामचन्द्र के अनुसार "फारस के प्रेम में नायक के प्रेम का वेग अधिक दिखाई देता है, भारत के प्रेम में नायिका के प्रेम का"। सूफी काव्यों में दोनों के समन्वय का प्रयास दृष्टिगत होता है। जायसी ने नायक और नायिका के प्रेम को एकसमान तीव्रता के साथ चित्रित किया। नागमति तथा पद्मावती जैसी नायिकाओं के प्रेम चित्रण में फारस और भारतीय-पद्धति का समान रूप से उपयोग किया है। यही नहीं, फारसी की मसनवियों के ऐकांतिक, लोकबाह्य और आदर्शात्मक प्रेम को सूफी कवियों ने भारतीय प्रेम पद्धति के लोकबद्ध एवं व्यावहारिक रूप से संबंधित कर दिया। सूफी कवियों ने एकान्तिक प्रेम की गूढ़ता और गम्भीरता के बीच में जीवन के और अंगों के साथ भी उस प्रेम के सम्पर्क का स्वरूप कुछ दिखाते गए हैं, इससे उनकी प्रेमगाथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होने से बच गई है। उसमें भावात्मक और व्यवहारात्मक दोनों शैलियों का मेल है। इश्क की मसनवियों के समान 'पदमावत' लोकपक्षशून्य नहीं है।

सूफी कवियों ने भारतीय जन-जीवन में प्रचलित कथाओं के द्वारा प्रेमी और प्रेमिका के उत्कट प्रेम, उनके मिलन की मार्ग की बाधाओं और फिर मिलन का रोचक ढंग से वर्णन किया है। आचार्य रामचन्द्र के अनुसार, "ये प्रेम कहानियाँ हिन्दुओं के ही घर की थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने दिखला दिया कि एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूपरंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता है।" इनकी दृष्टि में लौकिक प्रेम और ईश्वरीय

प्रेम में कोई फर्क नहीं है। जायसी की दृष्टि में ''मानुष प्रेम' को ही "वैकुंठी प्रेम" है-

"मानुष प्रेम भयऊ वैकुंठी प्रेम
नाहि त काह छार एक मुट्ठी"

गुरू (पीर) की महत्ता का प्रतिपादन

भक्ति काल के सभी भक्ति कवियों ने गुरु की महिमा को भगवान से भी बढ़कर माना है। लेकिन सूफी कवियों ने काल्पनिक पात्रों को भी गुरु माना है। जायसी के 'पद्मावत' में 'हीरामन तोता' (गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा) एक काल्पनिक पात्र है। लेकिन पूरे कथा विधान में उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

रहस्यवाद की भावना

लौकिक-प्रेम कथाओं द्वारा ही अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति होने के कारण इन कवियों में रहस्यवाद की भावना आ गई है। आचार्य शुक्ल के अनुसार सूफियों का रहस्यवाद भावनात्मक रहस्यवाद है। इन्होंने आत्मा को पुरुष और परमात्मा को नारी के रूप में चित्रित किया है। साधक के मार्ग की कठिनाइयों को नायक के मार्ग की कठिनाइयों के रूप में चित्रित किया गया है। सूफी शैतान को आत्मा-परमात्मा के मिलन में बाधक समझते हैं और इस शैतान रूपी बाधा को सच्चा गुरु ही दूर कर सकता है। गुरु की सहायता लेकर साधना-मार्ग पर आरुढ़ होकर ईश्वर तक पहुँचने का प्रयत्न करता है । सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है, आत्मा उसी का अंश है। वह ईश्वर प्राप्ति में संलग्न रहता है । जब तक वह ईश्वर-मिलन नहीं कर लेता, उसकी विरह-वेदना का मार्मिक चित्रण इन काव्यों में मिलता है। सूफी कवि संयोग, क्या वियोग दोनों में प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप का आभास देते है, जिसकी छाया से जगत के समस्त व्यापार होते प्रतीत होते हैं। वियोगपक्ष में जब कवि लीन होता है तब सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र सब उसी परम विरह में जलते और चक्कर लगाते दिखाई देते हैं, प्राणियों का लौकिक वियोग जिसका आभास मात्र है।

"बिरह के आगि सूर जरि काँपा । रातिउ दिवस जरै ओहि तापा।।"

काव्यभाषा

सूफी कवियों का मुख्य केंद्र अवध था । इसलिए अधिकांश सूफी कवियों ने अवधी भाषा में ही काव्य रचना की। नूर मुहम्मद ने ब्रजभाषा का भी प्रयोग

किया । अरबी और फारसी के शब्द भी इनके काव्यों में बहुधा प्रयुक्त होते हैं। जायसी की भाषा में अवधी का ठेठ और स्थानीय रूप मिलता है । इनकी अधिकांश रचनाओं में दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग मिलता है । जायसी ने सात चौपाइयों (अधार्लियों) के बाद एक एक दोहे का क्रम रखा है। जायसी के पीछे गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने श्रामचरितमानस' के लिए यही दोहे-चौपाई का क्रम ग्रहण किया। अलंकारों के चुनाव में समासोक्ति और अन्योक्ति के अलावा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों भी आए हैं ।

कथानक रुढ़ियों का प्रयोग

प्रेमाख्यान काव्य में कथानक को गति देने के लिए कथानक-रुढ़ियों का प्रयोग किया गया है । ये कथानक रुढ़ियाँ भारतीय साहित्य परम्परा के साथ-साथ ईरानी-साहित्य परम्परा से भी ली गई हैं । जैसे चित्र-दर्शन, शुकसारिका आदि द्वारा नायिका का रूप श्रवण कर नायक का उस पर आसक्त होना, मंदिर में प्रिय युगल का मिलन आदि भारतीय कथानक रुढ़ियाँ हैं तथा प्रेम-व्यापार में परियों और देवों का सहयोग, उड़ने वाली राजकुमारियाँ, प्रेम मार्ग में बाधक शैतान, आदि फारस साहित्य की कथानक रुढ़ियाँ हैं । इसके अतिरिक्त कथारम्भ के पहले ईश्वरस्तुति, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा, ग्रंथकार और उसके गुरु परम्परा का परिचय, कथा का प्रयोजन, धार्मिक और नैतिक तत्त्वों का समायोजन, कथा का समापन शांत रस में करना भी सूफी प्रेमाख्यानों के अन्तर्वर्ती तत्त्व हैं।

प्रतीकात्मकता

सूफी काव्य में लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना होने से पूरी काव्य प्रक्रिया का प्रतीकात्मक होना स्वाभाविक है। समस्त सूफी काव्य प्रकृतितः कथा-रूपक हैंद्य सभी प्रेमाख्यानों के ऐतिहासिक और काल्पनिक पात्र प्रतीकात्मक हैं। 'पद्मावत' में अलाउद्दीन, रत्न सेन, पद्मावती, नागमती, हीरामन तोता आदि सभी के अपने-अपने प्रतीकार्थ है-

"तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल, बुधि पदमिनि चीन्ह।
गुरु सुआ जेहि पंथ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।
राघव दूत, सोइ सैतानू। माया अलादीन सुलतानू।।"

इन कवियों को अपनी कथाओं में जहाँ कहीं दिव्य, अलौकिक अनुभुतियों को व्यक्त करने का अवसर मिला, उसको उन्होंने समासोक्ति और अन्योक्ति के माध्यम से पूर्ण किया । प्रस्तुत के माध्यम से अप्रस्तुत का संकेत और प्रस्तुत के साथ-साथ अप्रस्तुत का संकेत सूफी काव्यों की प्रमुख प्रवृति रही है।

भावव्यंजना

सूफी काव्यधारा की मूल विषय-वस्तु प्रेम है। इनके प्रेम भावना जीवन के समस्त भावों में सर्वोपरि है। उनके अनुसार प्रेम भावना अपनी व्यापकता में अन्य समस्त भावों को आच्छादित कर लेता है-

"प्रीति बेलि जिन अरुझै कोई। अरुझै, मुए न छूटै सोई।
प्रीति बेलि ऐसे तन डाढ़ा। पलुहत सुख, बाढ़त दुख बाढ़ा।
प्रीति अकेलि बेलि चढ़ि छावा। दूसर बेलि न सँचरै पावा।।"

इसी कारण इनके यहाँ मानुष प्रेम ही वैकुंठी प्रेम हो जाता है। कव्यशास्त्र में प्रेम कोशृंगार के अंतर्गत माना गया है। इसलिए सूफी कवियों ने प्रेम के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का पूरे मनोयोग से चित्रण किया है। लेकिन सबसे अधिक मन वियोग पक्ष में रमा है। सूफी कवियों ने नायिका को अलौकिक शक्ति का प्रतीक मानकर उसमें अनुपम सौन्दर्य का विधान किया है। इनके यहाँ नख-शिख, हाव-भाव और रूप-रंग जैसे शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन तो है ही लेकिन मानसिक और नैतिक सौन्दर्य के वर्णन में इनकी विदग्धता अद्‌भुत है। विरह दशाओं के वर्णनों में इन्होने जीवन के क्षुद्र स्वार्थों को पाटने का प्रयास किया है।

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन को व्यापक धार्मिक सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान करने में संत और सूफी काव्य धारा की अहम भूमिका रही है। संतों ने जहाँ ज्ञान की आंधी से समाज और धर्म की कुरीतियों और आडम्बरों के जंजाल को उड़ा देने का प्रयास किया वहीं सूफियों की मान्यता थी कि मनुष्य हृदय की क्षुद्रताओं को प्रेम ही हटा सकता है। कुल मिलाकर संत और सूफी कवियों ने देश के अस्थिर और निराशाजनक माहौल में जनता के हृदय को संभालने की अनथक कोशिश कीद्य अनुभूति की सहजता के साथ भाषा की सहजता और लोकपक्षधरता के कारण इन कवियों की वाणी न केवल सशक्त हो गई है, वरन इनका काव्यत्व भी उत्कर्ष पर पहुँच गया है।

5

संत तुकाराम

संत तुकाराम (1608-1650), जिन्हें तुकाराम के नाम से भी जाना जाता है सत्रहवीं शताब्दी एक महान संत कवि थे जो भारत में लंबे समय तक चले भक्ति आंदोलन के एक प्रमुख स्तंभ थे। तुकाराम महाराष्ट्र के एक महान् संत और कवि थे। वे तत्कालीन भारत में चले रहे 'भक्ति आंदोलन' के एक प्रमुख स्तंभ थे। उन्हें 'तुकोबा' भी कहा जाता है। इनके जन्म आदि के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। तुकाराम को चैतन्य नामक साधु ने 'रामकृष्ण हरि' मंत्र का स्वप्न में उपदेश दिया था। इसके उपरांत इन्होंने 17वर्ष संसार को समान रूप से उपदेश देने में व्यतीत किए। तुकाराम के मुख से समय-समय पर सहज रूप से परिस्फुटित होने वाली 'अभंग' वाणी के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई विशेष साहित्यिक कृति उपलब्ध नहीं है। अपने जीवन के उत्तरार्ध में इनके द्वारा गाए गए तथा उसी क्षण इनके शिष्यों द्वारा लिखे गए लगभग 4000 'अभंग' आज उपलब्ध हैं। तुकाराम ने अपनी साधक अवस्था में संत ज्ञानेश्वर और नामदेव, इन पूर्वकालीन संतों के ग्रंथों का गहराई तथा श्रद्धा से अध्ययन किया था। इन तीनों संत कवियों के साहित्य में एक ही आध्यात्म सूत्र पिरोया हुआ है।

जीवन परिचय

तुकाराम का जन्म महाराष्ट्र राज्य के पुणे जिले के अंतर्गत 'देहू' नामक ग्राम में शाके 1520 सन् 1598 में हुआ था। इनके पिता का नाम 'बोल्होबा' और

माता का नाम 'कनकाई' था। तुकाराम की जन्मतिथि के संबंध में विद्वानों में मतभेद है तथा सभी दृष्टियों से विचार करने पर शाके 1520 में इनका जन्म होना ही मान्य प्रतीत होता है। पूर्व के आठवें पुरुष विश्वंभर बाबा से इनके कुल में विट्ठल की उपासना बराबर चली आ रही थी। इनके कुल के सभी लोग 'श्पंढरपुर' की यात्रा (वारी) के लिये नियमित रूप से जाते थे।

विपत्तियाँ

देहू ग्राम के महाजन होने के कारण तुकाराम के कुटुम्ब को प्रतिष्ठित माना जाता था। इनकी बाल्यावस्था माता 'कनकाई' व पिता 'बहेबा' की देखरेख में अत्यंत दुलार के साथ व्यतीत हुई थी, किंतु जब ये प्रायः 18 वर्ष के थे, तभी इनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। इसी समय देश में हुए भीषण अकाल के कारण इनकी प्रथम पत्नी व छोटे बालक की भूख के कारण तड़पते हुए मृत्यु हो गई। तुकाराम चाहते तो अकाल के समय में अपनी महाजनी से और भी धन आदि एकत्र कर सकते थे, किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। विपत्तियों की ज्वालाओं में झुलसे हुए तुकाराम का मन प्रपंच से ऊब गया।

सुखों से विरक्ति

तुकाराम सांसारिक सुखों से विरक्त होते जा रहे थे। इनकी दूसरी पत्नी 'जीजाबाई' धनी परिवार की पुत्री और बड़ी ही कर्कशा स्वभाव की थी। अपनी पहली पत्नी और पुत्र की मृत्यु के बाद तुकाराम काफी दुःखी थे। अब अभाव और परेशानी का भयंकर दौर शुरू हो गया था। तुकाराम का मन विट्ठल के भजन गाने में लगता, जिस कारण उनकी दूसरी पत्नी दिन-रात ताने देती थी। तुकाराम इतने ध्यान मग्न रहते थे कि एक बार किसी का सामान बैलगाड़ी में लाद कर पहुँचाने जा रहे थे। पहुँचने पर देखा कि गाड़ी में लदी बोरियाँ रास्ते में ही गायब हो गई हैं। इसी प्रकार धन वसूल करके वापस लौटते समय एक गरीब ब्राह्मण की करुण कथा सुनकर सारा रुपया उसे दे दिया।

माता-पिता से वियोग

तुकाराम जी सत्रह वर्ष के थे, तब उनके वात्सल्य मूर्ति पिता श्री बोल्होबा इस दुनिया से उठ गए, जिन्होंने तुकाराम जी को जमींदार बनाया था।

पिता ने किया संचित धन। जीवन की न परवाह कर।
की महाजनी - प्रथा प्रदान। बोझ उठाया कटि-कंधों पर।
जिनकी छत्रछाया में संसार-ताप से बचे, वह साया ही हट गया।
अकस्मात् छोड़ गए पिता। थी तब नहीं कोई चिंता।

तुकाराम जी अत्यंत दु:खी हुए। वह दु:ख कम होने से पहले ही अर्थात् पिता की मौत के एक वर्ष पश्चात् माता कनकाई का स्वर्गवास हुआ। तुकाराम जी पर दु:खों का पहाड टूट पड़ा। माँ ने लाड़ले के लिए क्या नहीं किया था? उसके बाद अठारह बरस की उम्र में ज्येष्ठ बंधु सावजी की पत्नी (भावज) चल बसी। पहले से ही घर-गृहस्थी में सावजी का ध्यान न था। पत्नी की मृत्यु से वे घर त्यागकर तीर्थयात्रा के लिए निकल गए। जो गए, वापस लौटे ही नहीं। परिवार के चार सदस्यों को उनका बिछोह सहना पड़ा। जहाँ कुछ कमी न थी, वहाँ अपनों की, एक एक की कमी खलने लगी। तुकाराम जी ने सब्र रखा। वे हिम्मत न हारे। उदासीनता, निराशा के बावजूद उम्र की 20 साल की अवस्था में सफलता से घर-गृहस्थी करने का प्रयास करने लगे। परंतु काल को यह भी मंजूर न था। एक ही वर्ष में स्थितियों ने प्रतिकूल रूप धारण किया। दक्खिन में बड़ा अकाल पड़ा। महाभयंकर अकाल समय था 1629 ईस्वी का देरी से बरसात हुई। हुई तो अतिवृष्टि में फसल बह गई। लोगों के मन में उम्मीद की किरण बाकी थी। पर 1630 ईस्वी में बिल्कुल वर्षा न हुई। चारों ओर हाहाकार मच गया। अनाज की कीमतें आसमान छूने लगीं। हरी घास के अभाव में अनेक प्राणी मौत के घाट उतरे। अन्न की कमी सैकडों लोगों की मौत का कारण बनी। धनी परिवार मिट्टी चाटने लगे। दुर्दशा का फेर फिर भी समाप्त न हुआ। सन् 1631 ईस्वी में प्राकृतिक आपत्तियाँ चरम सीमा पार कर गई। अतिवृष्टि तथा बाढ की चपेट से कुछ न बचा। अकाल तथा प्रकृति का प्रकोप लगातार तीन साल झेलना पड़ा। अकाल की इस दुर्दशा का वर्णन महीपति बाबा इस तरह करते हैं -

हुआ अभाव, अनाज-बीज। लोग आठ सेर को मुँहताज।
बादल लौटे बिना गिरे। घास-अभाव में बैल मरे।

भीषण अकाल की चपेट में तुकाराम जी का कारोबार, गृहस्थी समूल नष्ट हुई। पशुधन नष्ट हुआ, साहूकारी डूबी, धंधा चौपट हुआ, सम्मान, प्रतिष्ठा घट गई। ऐसे में प्रथम पत्नी 'रखमाबाई' तथा इकलौता बेटा 'संतोबा' काल के ग्रास बने। आमतौर पर अकाल की स्थिति साहूकार और व्यापारियों के लिए सुनहरा मौका होता है। चीजों का कृत्रिम अभाव निर्माण कर वे अपनी जेबें भरते हैं। पर

तुकारामजी ऐसे पत्थरदिल नहीं थे। अपना दु:ख, दुर्दशा भूलकर वे अकाल पीडितों की सेवा में, मदद में जुट गए।

अभंग की रचना

अपनी दूसरी पत्नी के व्यवहार और पारिवारिक कलह से तंग आकर तुकाराम नारायणी नदी के उत्तर में 'मानतीर्थ पर्वत' पर जा बैठे और भागवत भजन करने लगे। इससे घबराकर पत्नी ने देवर को भेजकर इन्हें घर बुलवाया और अपने तरीके से रहने की छूट दे दी। अब तुकाराम ने 'अभंग' रचकर कीर्तन करना आरंभ कर दिया। इसका लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। कुछ लोग विरोध भी करने लगे। कहा जाता है कि रामेश्वर भट्ट नामक एक कन्नड़ ब्राह्मण ने इनसे कहा कि तुम 'अभंग' रचकर और कीर्तन करके लोगों को वैदिक धर्म के विरुद्ध बहकाते हो। तुम यह काम बंद कर दो। उसने संत तुकाराम को देहू गांव से निकालने का भी हुक्म जारी करवा दिया। इस पर तुकाराम ने रामेश्वर भट्ट से जाकर कहा कि मैं तो विट्ठल जी की आज्ञा से कविता करता हूँ। आप कहते हैं तो मैं यह काम बंद कर दूँगा। यह कहते हुए उन्होंने स्वरचित अभंगों का बस्ता नदी में डुबा दिया। किन्तु 13 दिन बाद लोगों ने देखा कि जब तुकाराम ध्यान में बैठे थे, उनका बस्ता सूखा ही नदी के ऊपर तैर रहा है। यह सुनकर रामेश्वर भट्ट भी उनका शिष्य हो गया। अभंग छंद में रचित तुकाराम के लगभग 4000 पद प्राप्त हैं। इनका मराठी जनता के हृदय में बड़ा ही सम्मान है। लोग इनका पाठ करते हैं। इनकी रचनाओं में 'ज्ञानेश्वरी' और 'एकनामी भागवत' की छाप दिखाई देती है। काव्य की दृष्टि से भी ये रचनाएँ उत्कृष्ट कोटि की मानी जाती हैं।

अवस्थाएँ

तुकाराम का अभंग वाङ्मय अत्यंत आत्मपरक होने के कारण उसमें उनके पारमार्थिक जीवन का संपूर्ण दर्शन होता है। कौटुंबिक आपत्तियों से त्रस्त एक सामान्य व्यक्ति किस प्रकार आत्मसाक्षात्कारी संत बन सका, इसका स्पष्ट रूप तुकाराम के अभंगों में दिखलाई पड़ता है। उनमें उनके आध्यात्मिक चरित्र की साकार रूप में तीन अवस्थाएँ दिखलाई पड़ती हैं।

प्रथम अवस्था

प्रथम साधक अवस्था में तुकाराम मन में किए किसी निश्चयानुसार संसार से निवृत्त तथा परमार्थ की ओर प्रवृत्त दिखलाई पड़ते हैं।

दूसरी अवस्था

दूसरी अवस्था में ईश्वर साक्षात्कार के प्रयत्न को असफल होते देखकर तुकाराम अत्यधिक निराशा की स्थिति में जीवन यापन करने लगे। उनके द्वारा अनुभूत इस चरम नैराश्य का जो सविस्तार चित्रण अंभंग वाणी में हुआ हैं उसकी हृदयवेधकता मराठी भाषा में सर्वथा अद्वितीय है।

तीसरी अवस्था

किंकर्तव्यमूढ़ता के अंधकार में तुकाराम जी की आत्मा को तड़पाने वाली घोर तमस्विनी का शीघ्र ही अंत हुआ और आत्म साक्षात्कार के सूर्य से आलोकित तुकाराम ब्रह्मानंद में विभोर हो गए। उनके आध्यात्मिक जीवनपथ की यह अंतिम एवं चिरवांछित सफलता की अवस्था थी।

आलोचना

इस प्रकार ईश्वरप्राप्ति की साधना पूर्ण होने के उपरांत तुकाराम के मुख से जो उपदेशवाणी प्रकट हुई वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण और अर्थपूर्ण है। स्वभावत: स्पष्टवादी होने के कारण इनकी वाणी में जो कठोरता दिखलाई पड़ती है, उसके पीछे इनका प्रमुख उद्देश्य समाज से दुष्टों का निर्दलन कर धर्म का संरक्षण करना ही था। इन्होंने सदैव सत्य का ही अवलंबन किया और किसी की प्रसन्नता और अप्रसन्नता की ओर ध्यान न देते हुए धर्मसंरक्षण के साथ साथ पाखंडखंडन का कार्य निरंतर चलाया। दाभिक संत, अनुभवशून्य पोथी पंडित, दुराचारी धर्मगुरु इत्यादि समाजकंटकों की उन्होंने अत्यंत तीव्र आलोचना की है। तुकाराम मन से भाग्यवादी थे अत: उनके द्वारा चित्रित मानवी संसार का चित्र निराशा, विफलता और उद्वेग से रँगा हुआ है, तथापि उन्होंने सांसारिकों के लिये श्संसार का त्याग करो' इस प्रकार का उपदेश कभी नहीं दिया। इनके उपदेश का यही सार है कि संसार के क्षणिक सुख की अपेक्षा परमार्थ के शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये मानव का प्रयत्न होना चाहिए।

काव्य रचना

तुकाराम की अधिकांश काव्य रचना कैबल अभंग छंद में ही है, तथापि उन्होंने रूपकात्मक रचनाएँ भी की हैं। सभी रूपक काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। इनकी वाणी श्रोताओं के कान पर पड़ते ही उनके हृदय को पकड़ लेने का अद्‌भुत सामर्थ्य रखती है। इनके काव्यों में अलंकारों का या शब्दचमत्कार का प्राचुर्य नहीं है। इनके अभंग सूत्रबद्ध होते हैं। थोड़े शब्दों में महान् अर्थों को व्यक्त करने का इनका कौशल मराठी साहित्य में अद्वितीय है। तुकाराम की आत्मनिष्ठ अभंगवाणी जनसाधारण को भी परम प्रिय लगती है। इसका प्रमुख कारण है कि सामान्य मानव के हृदय में उद्‌भूत होने वाले सुख, दुःख, आशा, निराशा, राग, लोभ आदि का प्रकटीकरण इसमें दिखलाई पड़ता है। ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि संतों ने भागवत धर्म की पताका को अपने कंधों पर ही लिया था किंतु तुकाराम ने उसे अपने जीवनकाल ही में अधिक ऊँचे स्थान पर फहरा दिया। उन्होंने अध्यात्मज्ञान को सुलभ बनाया तथा भक्ति का डंका बजाते हुए आबाल वृद्धो के लिये सहज सुलभ साध्य ऐसे भक्ति मार्ग को अधिक उज्ज्वल कर दिया।

संत ज्ञानेश्वर द्वारा लिखी गई 'ज्ञानेश्वरी' तथा एकनाथ द्वारा लिखित 'एकनाथी भागवत' के बारकरी संप्रदायवालों के प्रमुख धर्म ग्रंथ हैं। इस वांड्मय की छाप तुकाराम के अंभंगों पर दिखलाई पड़ती हैं। तुकाराम ने अपनी साधक अवस्था में इन पूर्वकालीन संतों के ग्रंथों का गहराई तथा श्रद्धा से अध्ययन किया। इन तीनों संत कवियों के साहित्य में एक ही आध्यात्म सूत्र पिरोया हुआ है तथा तीनों के पारमार्थिक विचारों का अंतरंग भी एकरूप है। ज्ञानदेव की सुमधुर वाणी काव्यालंकार से मंडित है, एकनाथ की भाषा विस्तृत है, पर तुकाराम की वाणी सूत्रबद्ध, अल्पाक्षर, रमणीय तथा मर्मभेदक हैं।

प्रेरणा स्रोत

तुकाराम केवल वारकरी संप्रदाय के ही शिखर नहीं वरन् दुनियाभर के साहित्य में भी उनकी जगह असाधारण है। उनके 'अभंग' अंग्रेजी भाषा में भी अनुवादित हुए हैं। उनका काव्य और साहित्य यानी रत्नों का खज्जाना है। यही वजह है कि आज 400 साल बाद भी वे आम आदमी के मन में सीधे उतरते हैं। दुनियादारी निभाते हुए एक आम आदमी संत कैसे बन गया, साथ ही किसी भी जाति या धर्म में जन्म लेकर उत्कट भक्ति और सदाचार के बल पर आत्मविकास साधा जा सकता है। यह विश्वास आम इंसान के मन में निर्माण

करने वाले थे- संत तुकाराम यानी तुकोबा। अपने विचारों, अपने आचरण और अपनी वाणी से अर्थपूर्ण तालमेल साधते अपनी जिंदगी को परिपूर्ण करने वाले तुकोबा जनसामान्य को हमेशा किस प्रकार जीना चाहिए, इसकी सही प्रेरणा प्रदान करते हैं।

जिंदगी के पूर्वार्द्ध में आए हादसों से तुकाराम हारकर निराश हो चुके थे। जिंदगी से उनका भरोसा उठ चुका था। ऐसे में उन्हें किसी सहारे की बेहद जरूरत थी, लौकिक सहारा तो किसी का था नहीं। इसीलिए पाडुरंग पर उन्होंने अपना सारा भार सौंप दिया और साधना शुरू की, जबकि उस वक्त उनका गुरु तो कोई भी नहीं था। विट्ठल भक्ति की परपंरा का जतन करते नामदेव की भक्ति करते 'अभंग' की रचना की। दुनियादारी से लगाव छोड़ने की बात भले ही तुकोबा ने कही हो, लेकिन दुनियादारी मत करो, ऐसा उन्होंने कभी नहीं कहा। सच कहा जाये तो किसी भी संत ने दुनियादारी छोड़ने की बात की ही नहीं। उल्टे संत नामदेव और एकनाथ ने सही व्यवस्थित तरीके से दुनियादारी निभाई। 'आधी प्रपंच करावा नेटका' तो समर्थ रामदास ने भी कहा है। दुनियादारी वह उचित कर्म है, कर्तव्य है जिसे अच्छी तरह से करना चाहिए, लेकिन उसे करते वक्त औचित्य, विवेक, समभाव रखना होता है। कहाँ रुकना है, यह मालूम होना चाहिए। भक्ति भी दुनिया में रहते हुए ही करना चाहिए। दुनियादारी के लिए तुकोबा कहते हैं- 'प्रपंच हर इंसान को खुद को सिद्ध करने का रणांगण है।' इसीलिए वे दुनियादारी का स्वागत करते हैं। निवृत्ति का अर्थ निरसन करना है, सुख व दु:ख दोनों को समान मानते जीना।

तुकाराम की गहरी अनुभव दृष्टि बेहद गहरे व ईशपरक रही थी, जिसके चलते उन्हें कुछ भी कहने में संकोच नहीं था कि उनकी वाणी स्वयंभू, ईश्वर की वाणी है। वे तो मजदूर की तरह जी रहे थे। दुनिया में कोई भी दिखावटी चीज नहीं टिकती। झूठ लंबे समय तक संभाला नहीं जा सकता। झूठ से सख्त परहेज रखने वाले तुकोबा को संत नामदेव का रूप माना गया है। इनका समय 17वीं सदी के पूर्वार्द्ध का रहा। वे समर्थ रामदास व छत्रपति शिवाजी के समकालीन थे। इनका व्यक्तित्व बड़ा मौलिक व प्रेरणास्पद है। निम्न वर्ग में जन्म लेने के बावजूद वे कई शास्त्रकारों व समकालीन संतों से बहुत आगे थे। वे धर्म व अध्यात्म के साकार विग्रह थे।

देहविसर्जन

तुकाराम को 'चैतन्य' नामक साधु ने माघ सुदी 10 शाके 1541 में 'रामकृष्ण हरि' मंत्र का स्वप्न में उपदेश दिया। इसके उपरांत इन्होंने 17 वर्ष संसार को समान रूप से उपदेश देने में व्यतीत किए। सच्चे वैराग्य तथा क्षमाशील अंत:करण के कारण इनकी निंदा करने वाले निंदक भी पश्चाताप करते हूए इनके भक्त बन गए। इस प्रकार 'भागवत धर्म' का सबको उपदेश करते व परमार्थ मार्ग को आलोकित करते हुए अधर्म का खंडन करने वाले तुकाराम ने फाल्गुन बदी (कृष्ण) द्वादशी, शाके 1571 को देहविसर्जन किया। इनका देहू ग्राम तीर्थ माना जाता है और प्रतिवर्ष पाँच दिन तक उनकी निधन तिथि मनाई जाती है।

ग्रंथ पाठ और कर्मकांड से कहीं दूर तुकाराम प्रेम के जरिए आध्यात्मिकता की खोज को महत्त्व देते थे। उन्होंने अनगिनत 'अभंगों' की रचना की थी। उनकी कविताओं के अंत में लिखा होता था कि- 'तुका माने' यानी 'तुका ने कहा'। उनकी राह पर चलकर 'वारकरी संप्रदाय' बना, जिसका लक्ष्य था- समाजसेवा और हरिसंकीर्तन मंडल। इस संप्रदाय के अनुयायी सदैव प्रभु का ध्यान करते थे। तुकाराम ने कितने 'अभंग' लिखे, इनका प्रमाण नहीं मिलता, लेकिन मराठी भाषा में हजारों 'अभंग' तो लोगों की जुबान पर ही हैं। पहला प्रकाशित रूप 1873 में सामने आया था। इस संकलन में 4607 'अभंग' संकलित किए गए थे। संत तुकाराम भले ही अब नहीं हैं, लेकिन उनके लिखे गए गीत आज भी महाराष्ट्र में पूरी भक्ति के साथ गाए जाते हैं। तुकाराम ने अकेले ही महाराष्ट्र में 'भक्ति आंदोलन' को फैलाने में अहम भूमिका निभाई थी।

तुकाराम पर फिल्म

महाराष्ट्र के 'वारकरी संप्रदाय' के लोग जब पंढरपुर की यात्रा पर जाते हैं, तो 'ज्ञानोबा माऊली तुकाराम' का ही जयघोष करते है। यह स्थान संत तुकाराम के मराठी भक्तों के दिलों में बसा हुआ है। तुकाराम के संत जीवन पर आधारित पहली फिल्म विष्णुपंत पागनीस ने 1940 के दशक में बनायी थी। फिल्म का नाम था- 'संत तुकाराम'। यह फिल्म मराठी ही नहीं बल्कि भारतीय फिल्म जगत् में मील का पत्थर साबित हुई थी। क्योंकि प्रतिष्ठापूर्ण 'कान्स फिल्म्स फेस्टिव्हल' में इसे सम्माननीय 'सुवर्ण कमल पदक' से पुरस्कृत किया गया था। यह पुरस्कार पाने वाली यह पहली भारतीय फिल्म

थी। महाराष्ट्र में इस फिल्म ने सुवर्ण महोत्सव पूरा किया था। इस फिल्म का प्रभाव इतना अधिक था कि जब लोग फिल्म देखने थियेटर में जाते तो अपने जूते बाहर उतारकर जाते थे। फिल्म का निर्माण करने वाले विष्णुपंत को ही संत तुकाराम मानकर लोग उनकी पूजा करते थे। इस फिल्म के सत्तर साल बाद फिर से संत तुकाराम के जीवन चरित्र पर आधारित एक और फिल्म मराठी में बनाई गयी। इस बीच सिर्फ एक बार ऐसा प्रयास कन्नड़ में हुआ था। इस फिल्म का नाम था- 'भक्त तुकाराम'। सन 2012 में चंद्रकांत कुलकर्णी निर्देशित श्तुकाराम' फिल्म प्रदर्शित हुई। वर्ष 1940 की फिल्म संत तुकाराम के संत चरित्र पर आधारित थी तथा नयी फिल्म उनके सामान्य मनुष्य से संत के सफर पर आधारित है। इसलिये किसी भी फिल्म समीक्षक ने दोनों फिल्मों की तुलना करना उचित नहीं समझा। लोगों के मन में यही शंका थी परदे पर इससे पहले भी 'संत तुकाराम' आ चुकी है, अब कुलकर्णीजी क्या नया दिखाने वाले है? फिल्म को देखकर ऐसा महसूस होता है की निर्देशक जिस उद्देश्य को लेकर यह फिल्म बना रहे थे, वह उन्होंने हासिल किया। संत तुकाराम के जन्म से लेकर संत जीवन का सफर इस फिल्म में प्रभावशाली रूप से प्रस्तुत किया गया।

फिल्म की शुरूआत ही तुकाराम के बालजीवन से होती है। उनके माता-पिता तथा भाई सावजी, कान्हा और दोनों पत्नियों का चरित्र भी इस फिल्म में सारांश रूप में नजर आता है। उनके जीवन पर किन घटनाओं का असर हुआ तथा किन व्यक्तियों का प्रभाव था, यह सब बातें निर्देशक ने बहुत ही अच्छी तरह से परदे पर दिखाई। फिल्म तीन घंटे की होने के बावजूद कही पर भी, थम नहीं जाती। मध्यांतर तक की फिल्म तुकाराम के व्यावहारिक जीवन पर आधारित है। इसमें उनके जीवन की सभी घटनायें फिल्माई गयी हैं। यह केवल एक मनोरंजन करने वाली फिल्म नहीं बल्कि जीवन की कहानी प्रस्तुत करने वाली फिल्म है।

तुकाराम की मूल शिक्षाएँ

संत तुकाराम ने इस बात पर बल दिया है कि सभी मनुष्य परमपिता ईश्वर की संतान हैं और इस कारण समान हैं। संत तुकाराम द्वारा 'महाराष्ट्र धर्म' का प्रचार हुआ जिसके सिद्धांत भक्ति आंदोलन से प्रभावित थे। महाराष्ट्र धर्म का तत्कालीन सामाजिक विचारधारा पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि इसे जाति

और वर्णव्यवस्था पर कुठाराघात करने में सफलता प्राप्त नहीं हुई, किंतु इससे इंकार नहीं किया जा सकता है कि समानता के सिद्धांत के प्रतिपादन द्वारा इसके प्रणेता वर्णव्यवस्था को लचीला बनाने में अवश्य सफल हुए। महाराष्ट्र धर्म का उपयोग शिवाजी ने उच्चवर्गीय मराठों तथा कुन्बियों, बहुजन शूद्र को एकसूत्र में बाँधने के लिए किया।

6

ज्ञानेश्वर

संत ज्ञानेश्वर महाराष्ट्र तेरहवीं सदी के एक महान सन्त थे। इन्होंने ज्ञानेश्वरी की रचना की। संत ज्ञानेश्वर की गणना भारत के महान संतों एवं मराठी कवियों में होती है। ये संत नामदेव के समकालीन थे और उनके साथ इन्होंने पूरे महाराष्ट्र का भ्रमण कर लोगों को ज्ञान-भक्ति से परिचित कराया और समता, समभाव का उपदेश दिया। वे महाराष्ट्र-संस्कृति के 'आद्य-प्रवर्तकों' में भी माने जाते हैं।

संत ज्ञानेश्वर का जन्म सन 1275 ईसवी में महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले में पैठण के पास गोदावरी नदी के किनारे आपेगाँव में भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को हुआ था। इनके पिता का नाम विट्ठल पंत एवं माता का नाम रुक्मिणी बाई था। इनके पिता उच्च कोटि के मुमुक्षु तथा भगवान् विट्ठलनाथ के अनन्य उपासक थे। विवाह के उपरांत उन्होंने संन्यास दीक्षा ग्रहण की थी, किंतु उन्हें अपने गुरुदेव की आज्ञा से फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना पड़ा। इस अवस्था में उन्हें निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव तथा सोपान नामक तीन पुत्र एवं मुक्ताबाई नाम की एक कन्या हुई। संन्यास-दीक्षा-ग्रहण के उपरांत इन संतानों का जन्म होने के कारण इन्हें 'संन्यासी की संतान' यह अपमानजनक संबोधन निरंतर सहना पड़ता था। विट्ठल पंत को तो उस समय के समाज द्वारा दी गई आज्ञा के अनुसार देहत्याग तक करना पड़ा था।

पिता की छत्रछाया से वंचित से अनाथ भाई-बहन जनापवाद के कठोर आघात सहते हुए 'शुद्धिपत्र' की प्राप्ति के लिये उस समय के सुप्रसिद्ध धर्मक्षेत्र

पैठन में जा पहुँचे। किम्वदंती प्रसिद्ध है: ज्ञानदेव ने यहाँ उनका उपहास उड़ा रहे ब्राह्मणों के समक्ष भैंसे के मुख से वेदोच्चारण कराया था। गीताप्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित इनके जीवन-परिचय के अनुसार - '.....1400 वर्ष के तपस्वी चांगदेव के स्वागत के लिए जाना था, उस समय ये दीवार पर बैठे थे, उसी दीवार को उक्त संत के पास चला कर ले गये। ' मराठी गीत में यह घटना यों गाई जाती रही है-'चालविली जड़ भिंती। हरविली चांगयाची भ्रान्ति।' इनके इस अलौकिक चमत्कार से प्रभावित हो पैठन (पैठण) के प्रमुख विद्वानों ने उन चारों भाई-बहनों को शक संवत 1209 (सन् 1287) में 'शुद्धिपत्र' प्रदान कर दिया।

उक्त शुद्धिपत्र को लेकर ये चारों प्रवरा नदी के किनारे बसे नेवासे ग्राम में पहुँचे। ज्ञानदेव के ज्येष्ठ भ्राता निवृत्तिनाथ के नाथ संप्रदाय के गहनीनाथ से उपदेश मिला था। इन्होंने उस आध्यात्मिक धरोहर को ज्ञानदेव के द्वारा अपनी छोटी बहन मुक्ताबाई तक यथावत् पहुँचा दिया। इस प्रकार परमार्थमार्ग में कृतार्थ एवं सामाजिक दृष्टि से पुनीत ज्ञानदेव ने आबालवृद्धों को अध्यात्म का सरल परिचय प्राप्त कराने के उद्देश्य से श्रीमद्भगवद्गीता पर मराठी में टीका लिखी। इसी का नाम है भावार्थदीपिका अथवा ज्ञानेश्वरी। इस ग्रंथ की पूर्णता शक संवत 1212 नेवासे गाँव के महालय देवी के मंदिर में हुई। कुछ विद्वानों का अभिमत है- इन्होंने अभंग-वृत्त की एक मराठी टीका योगवासिष्ठ पर भी लिखी थी, पर दुर्भाग्य से वह अप्राप्य है।

उन दिनों के लगभग सारे धर्मग्रंथ संस्कृत में होते थे और आम जनता बहुत संस्कृत नहीं जानती थी, अस्तु तेजस्वी बालक ज्ञानेश्वर ने केवल 15 वर्ष की उम्र में ही गीता पर मराठी की बोलचाल भाषा में श्ज्ञानेश्वरीश्नामक गीता-भाष्य की रचना करके मराठी जनता की उनकी अपनी भाषा में उपदेश कर जैसे ज्ञान की झोली ही खोल दी। स्वयं टीकाकार ने लिखा है- 'अब यदि मैं गीता का ठीक-ठीक विवेचन मराठी (देशी) भाषा में करूं तो इस में आश्चर्य का क्या कारण है ...गुरु-कृपा से क्या कुछ सम्भव नहीं ?

इस ग्रंथ की समाप्ति के उपरांत ज्ञानेश्वर ने अपने राजनीतिक सिद्धांतों की स्वतंत्र विवेचना करनेवाले 'अमृतानुभव' नामक दूसरे ग्रंथ का निर्माण किया। इस ग्रंथ के पूर्ण होने के बाद ये चारों भाई-बहन पुणे के निकटवर्ती ग्राम आलंदी आ पहुँचे। यहाँ से इन्होंने योगिराज चांगदेव को 65 ओवियों (पदों) में जो पत्र लिखा वह महाराष्ट्र में 'चांगदेव पासष्ठी' नाम से विख्यात है।

ज्ञानदेव जब तीर्थयात्रा के उद्देश्य से आलंदी से चले उस समय इनके साथ इनके भाई, बहन, दादी, तथा विसोवा खेचर, गोरा कुम्हार आदि अनेक समकालीन संत भी थे। विशेषतया नामदेव तथा ज्ञानदेव के आपसी संबंध इतने स्नेहपूर्ण थे कि ऐसा लगता था मानो इस तीर्थयात्रा के बहाने ज्ञान और कर्म दोनों तपस्वियों के भेस में साकार रूप धारण कर एकरूप हो गए हों। तीर्थयात्रा से लौटते हुए ज्ञानदेव पंढरपुर मार्ग से आलंदी आ पहुँचे। विद्वानों का अनुमान हैं कि ज्ञानदेव ने इसी काल में अपने 'अभंगों' की रचना की होगी।

बालक से लेकर वृद्धों तक को भक्तिमार्ग का परिचय करा कर भागवत-धर्म की पुनःस्थापना करने बाद ज्ञानदेव ने आलंदी ग्राम में अत्यंत युवा होते हुए भी जीवित समाधि लेने का निश्चय किया। मात्र 21 वर्ष तीन माह और पांच दिन की अल्पायु में वह इस नश्वर संसार का परित्याग कर समाधिस्थ हो गये। ज्ञानदेव के समाधिग्रहण का वृत्तांत संत नामदेव ने अत्यंत हृदयस्पर्शी शब्दों में लिखा है। अपने गुरु निवृत्तिनाथ को अंतिम वंदन कर ज्ञानदेव स्थितप्रज्ञ के समान समाधिमंदिर में जा बैठे। तदुपरांत स्वयं गुरु ने समाधिमंदिर की द्वारशिला बंद कर दी। ज्ञानेश्वर, जिन्हें ध्यानेश्वर भी कहा जाता है, ने यह जीवित समाधि ग्राम आलिंदी संवत में शके 1217 (वि. संवत 1353 (सन् 1296) की मार्गशीर्ष वदी (कृष्ण) त्रियोदशी को ली, जो पुणे के लगभग 14 किलोमीटर दूर अब एक प्रसिद्ध तीर्थ बन गया है।

कृतियाँ

ज्ञानेश्वर जी की लिखी 'ज्ञानेश्वरी', 'अमृतानुभव', 'चांगदेव पासठी' तथा 'अभंग' जैसी कई कृतियाँ सर्वमान्य हैं। कुछ वर्ष पूर्व यह सिद्धांत उपस्थित किया गया था कि ज्ञानेश्वरी के लेखक तथा अभंग के रचयिता, एक ही नाम के दो भिन्न व्यक्ति हैं। किंतु अब अनेक पुष्ट आधारों से इस सिद्धांत का खंडन होकर यह बात सर्वमान्य हो चुकी है कि ये रचनाएं ही व्यक्ति संत ज्ञानेश्वर-ध्यानेश्वर की ही हैं।

अपने अभंगों में ज्ञानेश्वर ने तत्त्वचर्चा की गहराइयों को न नापते हुए अधिकार वाणी से साधारण जनता को आचारधर्म की शिक्षा दी है। फल यह हुआ कि बालकों से वृद्धों तक के मन पर यह अभंगवाणी पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित हुई। गुरुकृपा, नामस्मरण और सत्संग ये परमार्थपथ की तीन सीढ़ियाँ हैं, जिनका दिग्दर्शन संत ज्ञानेश्वर ने अपनी शिक्षाओं में मूलतः कराया है।

ज्ञानदेव जैस श्रेष्ठ संत थे, वैसे ही वे श्रेष्ठ कवि भी थे। उनकी आध्यात्मिक साधना काव्यरस से आप्लावित है, उनकी कविता को दर्शन की गुरु-गंभीरता मिली है। यह सत्य है कि ज्ञानेश्वर की अभंगवाणी 'आप-बीती' जैसी होने के कारण उसमें जगह जगह रस-स्रोत दृष्टव्य रहे हैं, तथापि उनके ज्ञान की पूर्णता ज्ञानेश्वरी में ही हुई है। काव्य के दोनों अंगों, रस और अलंकार का ज्ञानेश्वरी में सुंदर समन्वय है।

तत्त्वविचार तथा काव्यसौंदर्य के समान ही महाराष्ट्र के पारमार्थिक जीवन में भी ज्ञानेश्वर ने जो कार्य किए वे सभी क्रांतिकारी थे। उन दिनों कर्मकांड का बोलबाला था, समाज का नेतृत्व करनेवाली पंडितों की परंपरा प्रभावहीन हो चुकी थी। ऐसी अवस्था में अध्यात्म-ज्ञान की महत्ता स्थापित करते हुए सर्वसाधारण मानव के आकलन योग्य भक्तिमार्ग का प्रतिपादन ज्ञानदेव ने किया। पंडितों के ग्रंथों तक सीमित रहने वाला अध्यात्म दर्शन शूद्रादिकों के लिये भी सहज सुलभ हो, इसे ध्यान में रखते हुए' ज्ञानेश्वरी' की रचना की गई। 'नीच' समझे जाने वाले कुल में जन्म लेने के कारण मनुष्य को सामाजिक दृष्टि से कितना ही 'निम्न' क्यों न माना जाता हो, परंतु ईश्वर के यहाँ सभी को समान आश्रय मिलता है, इस सिद्धांत को प्रतिपादित करने का श्रेय ज्ञानेश्वर को है। महाराष्ट्र में इनके ग्रंथ ज्ञानेश्वरी को श्माउली' या माता भी कहा जाता है। दूसरे उपदेश एवं आश्वासन के कारण उस समय महाराष्ट्र की सभी जातियों में भगवद्भक्तों की एक पीढ़ी ही निर्मित हो गई और मराठी भावुक नर-नारी अपनी अपनी भाषा में पंढरपुर के भगवान पांडुरंग या विट्ठल की महिमा गाने लगे। भगवान् केवल कठोर न्यायाधीश ही नहीं, अपितु सहजवत्सल पिता भी हैं। उनकी दृष्टि में एक माता की सी करुणा है- यह बात संपूर्ण महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर ने अपनी सादी-मधुर-भाषा में बतलाई। इसी कारण यहाँ पुनः एक बार भागवत धर्म की स्थापना हुई तथा इस संप्रदाय के प्रमुख धर्मग्रंथ के रूप में 'ज्ञानेश्वरी' की भी समान्यजन के बीच प्रतिष्ठा हुई। इसी के द्वारा स्फूर्ति प्राप्त कर अनेक भागवत कवियों ने मराठी भाषा में ग्रंथ-रचना की और भक्ति-मार्ग में एक समृद्ध काव्य-परंपरा का निर्माण किया। इसीलिये ज्ञानदेव महाराष्ट्र-संस्कृति के आद्य-प्रवर्तक माने जाने लगे।

7

नामदेव

नामदेव भारत के प्रसिद्ध संत थे। इनके समय में नाथ और महानुभाव पंथों का महाराष्ट्र में प्रचार था। नामदेव का जन्म सन 1270 (शके 1192) में महाराष्ट्र के सतारा जिले में कृष्णा नदी के किनारे बसे नरसीबामणी नामक गाँव में एक शिंपी जिसे छीपा भी कहते है के परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम दामाशेटी और माता का नाम गोणाई देवी था। इनका परिवार भगवान विट्ठल का परम भक्त था। नामदेव का विवाह राधाबाई के साथ हुआ था और इनके पुत्र का नाम नारायण था।

संत नामदेव ने विसोबा खेचर को गुरु के रूप में स्वीकार किया था। ये संत ज्ञानेश्वर के समकालीन थे और उम्र में उनसे 5 साल बड़े थे। संत नामदेव, संत ज्ञानेश्वर के साथ पूरे महाराष्ट्र का भ्रमण किए, भक्ति-गीत रचे और जनता जनार्दन को समता और प्रभु-भक्ति का पाठ पढ़ाया। संत ज्ञानेश्वर के परलोकगमन के बाद इन्होंने पूरे भारत का भ्रमण किया। इन्होंने मराठी के साथ ही साथ हिन्दी में भी रचनाएँ लिखीं। इन्होंने अठारह वर्षो तक पंजाब में भगवन्नाम का प्रचार किया। अभी भी इनकी कुछ रचनाएँ सिक्खों की धार्मिक पुस्तकों में मिलती हैं। मुखबानी नामक पुस्तक में इनकी रचनाएँ संग्रहित हैं। आज भी इनके रचित गीत पूरे महाराष्ट्र में भक्ति और प्रेम के साथ गाए जाते हैं। ये संवत 1407 में समाधि में लीन हो गए।

सन्त नामदेव के समय में नाथ और महानुभाव पंथों का महाराष्ट्र में प्रचार था। नाथ पंथ 'अलख निरंजन' की योगपरक साधना का समर्थक तथा बाह्याडंबरों का विरोधी था और महानुभाव पंथ वैदिक कर्मकांड तथा बहुदेवोपासना का विरोधी होते हुए भी मूर्तिपूजा को सर्वथा निषिद्ध नहीं मानता था। इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र में पंढरपुर के 'विठोबा' की उपासना भी प्रचलित थी। सामान्य जनता प्रतिवर्ष आषाढ़ी और कार्तिकी एकादशी को उनके दर्शनों के लिए पंढरपुर की 'वारी' (यात्रा) किया करती थी (यह प्रथा आज भी प्रचलित है), इस प्रकार की वारी (यात्रा) करने वाले 'वारकरी' कहलाते हैं। विट्ठलोपासना का यह 'पंथ' 'वारकरी' संप्रदाय कहलाता है। नामदेव इसी संप्रदाय के प्रमुख संत माने जाते हैं।

नामदेव का कालनिर्णय

वारकरी संत नामदेव के समय के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। मतभेद का कारण यह है कि महाराष्ट्र में नामदेव नामक पाँच संत हो गए हैं और उन सबने थोड़ी बहुत 'अभंग' और पदरचना की है। आवटे की 'सकल संतगाथा' में नामदेव के नाम पर 2500 अभंग मिलते हैं। लगभग 600 अभंगों में केवल नामदेव या 'नामा' की छाप है और शेष में 'विष्णुदासनामा' की।

कुछ विद्वानों के मत से दोनों 'नामा' एक ही हैं। विष्णु (विठोबा) के दास होने से नामदेव ने ही संभवत: अपने को विष्णुदास 'नामा' कहना प्रारंभ कर दिया हो। इस संबध में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध इतिहासकार वि.का. राजवाड़े का कथन है कि 'नाभा' शिंपी (दर्जी) का काल शके 1192 से 1272 तक है। विष्णुदासनामा का समय शके 1517 है। यह एकनाथ के समकालीन थे। प्रो. रानडे ने भी राजवाड़े के मत का समर्थन किया है। श्री राजवाड़े ने विष्णुदास नामा की 'बावन अक्षरी' प्रकाशित की है जिसमें 'नामदेवराय' की वंदना की गई है। इससे भी सिद्ध होता है कि ये दोनों व्यक्ति भिन्न हैं और भिन्न-भिन्न समय में हुए हैं। चांदोरकर ने महानुभावी 'नेमदेव' को भी वारकरी नामदेव के साथ जोड़ दिया है। परंतु डॉ. तुलपुले का कथन है कि यह भिन्न व्यक्ति है और कोली जाति का है। इसका वारकरी नामदेव से कोई संबंध नहीं है। नामदेव के समसामयिक एक विष्णुदास नामा कवि का और पता चला है, पर यह महानुभाव संप्रदाय के हैं। इन्होने महाभारत पर ओवीबद्ध ग्रंथ लिखा है। इसका वारकरी नामदेव से कोई संबध नहीं है।

नामदेव विषयक एक और विवाद है। 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में नामदेव के 61 पद संगृहीत हैं। महाराष्ट्र के कुछ विवेचकों की धारणा है कि गुरुग्रंथ साहब के श्नामदेव' पंजाबी हैं, महाराष्ट्रीय नहीं। यह हो सकता है, वह महाराष्ट्रीय वारकरी नामदेव का कोई शिष्य रहा हो और उसने अपने गुरु के नाम पर हिन्दी में पद रचना की हो। परंतु महाराष्ट्रीय वारकरी नामदेव ही के हिंदी पद गुरुग्रंथ साहब में संकलित हैं, क्योंकि नामदेव के मराठी अभंगों और गुरुग्रंथ साहब के पदों में जीवन घटनाओं तथा भावों, यहाँ तक कि रूपक और उपमाओं की समानता है। अत: मराठी अभंगकार नामदेव और हिंदी पदकार नामदेव एक ही सिद्ध होते हैं।

महाराष्ट्रीय विद्वान् वारकरी नामदेव को ज्ञानेश्वर का समसामयिक मानते हैं और ज्ञानेश्वर का समय उनके ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी' से प्रमाणित हो जाता है। ज्ञानेश्वरी में उसका रचनाकाल '1212 शके' दिया हुआ है। डॉ. मोहनसिंह दीवाना नामदेव के काल को खींचकर 14वीं और 15वीं शताब्दी तक ले जाते हैं। परंतु उन्होंने अपने मतसमर्थन का कोई अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। नामदेव की एक प्रसिद्ध रचना 'तीर्थावली' है जिसकी प्रामाणिकता निर्विवाद है। उसमें ज्ञानदेव और नामदेव की सहयात्राओं का वर्णन है। अत: ज्ञानदेव और नामदेव का समकालीन होना अंत:साक्ष्य से भी सिद्ध है। नामदेव ज्ञानेश्वर की समाधि के लगभग 55 वर्ष बाद तक और जीवित रहे। इस प्रकार नामदेव का काल शके 1192 से शके 1272 तक माना जाता है।

जीवनचरित्र

नामदेव का जन्म शके 1192 में प्रथम संवत्सर कार्तिक शुक्ल एकादशी को नरसी ब्राह्मणी नामक ग्राम में दामा शेट शिंपी (छीपा) के यहाँ हुआ था। संत शिरोमणि श्री नामदेव जी ने विसोबा खेचर से दीक्षा ली। जो नामदेव पंढरपुर के 'विट्ठल' की प्रतिमा में ही भगवान को देखते थे, वे खेचर के संपर्क में आने के बाद उसे सर्वत्र अनुभव करने लगे। उसकी प्रेमभक्ति में ज्ञान का समावेश हो गया। डॉ. मोहनसिंह नामदेव को रामानंद का शिष्य बतलाते हैं। परन्तु महाराष्ट्र में इनकी बहुमान्य गुरु परंपरा इस प्रकार है –

ज्ञानेश्वर और नामदेव उत्तर भारत की साथ साथ यात्रा की थी। ज्ञानेश्वर मारवाड़ में कोलदर्जी नामक स्थान तक ही नामदेव के साथ गए। वहाँ से लौटकर उन्होंने आलंदी में शके 1218 में समाधि ले ली। ज्ञानेश्वर के वियोग से नामदेव का मन महाराष्ट्र से उचट गया और ये पंजाब की ओर चले गए।

गुरुदासपुर जिले के घोभान नामक स्थान पर आज भी नामदेव जी का मंदिर विद्यमान है। वहाँ सीमित क्षेत्र में इनका 'पंथ' भी चल रहा है। संतों के जीवन के साथ कतिपय चमत्कारी घटनाएँ जुड़ी रहती है। नामदेव के चरित्र में भी सुल्तान की आज्ञा से इनका मृत गाय को जिलाना, पूर्वाभिमुख आवढ्या नागनाथ मंदिर के सामने कीर्तन करने पर पुजारी के आपत्ति उठाने के उपरांत इनके पश्चिम की ओर जाते ही उसके द्वार का पश्चिमाभिमुख हो जाना, विट्ठल की मूर्ति का इनके हाथ दुग्धपान करना, आदि घटनाएँ समाविष्ट हैं। महाराष्ट्र से लेकर पंजाब तक विट्ठल मंदिर के महाद्वार पर शके 1272 में समाधि ले ली। कुछ विद्वान् इनका समाधिस्थान घोमान मानते हैं, परंतु बहुमत पंढरपुर के ही पक्ष में हैं।

नामदेव के मत

बिसोवा खेचर से दीक्षा लेने के पूर्व तक ये सगुणोपासक थे। पंढरपुर के विट्ठल (विठोबा) की उपासना किया करते थे। दीक्षा के उपरांत इनकी विट्ठलभक्ति सर्वव्यापक हो गई। महाराष्ट्रीय संत परंपरा के अनुसार इनकी निर्गुण भक्ति थी, जिसमें सगुण निर्गुण का काई भेदभाव नहीं था। उन्होंने मराठी में कई सौ अभंग और हिंदी में सौ के लगभग पद रचे हैं। इनके पदों में हठयोग की कुंडलिनी-योग-साधना और प्रेमाभक्ति की (अपने 'राम' से मिलने की) 'तालाबेली' (विह्वलभावना) दोनों हैं। निर्गुणी कबीर के समान नामदेव में भी व्रत, तीर्थ आदि बाह्याडंबर के प्रति उपेक्षा तथा भगवन्नाम एवं सतगुरु के प्रति आदर भाव विद्यमान है। कबीर के पदों में यततत्र नामदेव की भावछाया दृष्टिगोचर होती है। कबीर के पूर्व नामदेव ने उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति का प्रचार किया, जो निर्विवाद है।

परलोक गमन

आपने दो बार तीर्थ यात्रा की व साधु संतों से भ्रम दूर करते रहे। ज्यों-ज्यों आपकी आयु बढती गई, त्यों-त्यों आपका यश फैलता गया। आपने दक्षिण में बहुत प्रचार किया। आपके गुरु देव ज्ञानेश्वर जी परलोक गमन कर गए तो आप भी कुछ उपराम रहने लग गए। अन्तिम दिनों में आप पंजाब आ गए। अन्त में आप अस्सी साल की आयु में 1407 विक्रमी को परलोक गमन कर गए।

साहित्यिक देन

नामदेव जी ने जो बाणी उच्चारण की वह गुरुग्रंथ साहिब में भी मिलती है। बहुत सारी वाणी दक्षिण व महाराष्ट्र में गाई जाती है। आपकी वाणी पढ़ने से मन को शांति मिलती है व भक्ति की तरफ मन लगता है।

ठाकुर को दूध पिलाना

एक दिन नामदेव जी के पिता किसी काम से बाहर जा रहे थे। उन्होंने नामदेव जी से कहा कि अब उनके स्थान पर वह ठाकुर की सेवा करेंगे जैसे ठाकुर को स्नान कराना, मन्दिर को स्वच्छ रखना व ठाकुर को दूध चढ़ाना। जैसे सारी मर्यादा मैं पूर्ण करता हूँ वैसे तुम भी करना। देखना लापरवाही या आलस्य मत करना, नहीं तो ठाकुर जी नाराज हो जाएँगे।

नामदेव जी ने वैसा ही किया, जैसे पिताजी समझाकर गए थे। जब उसने दूध का कटोरा भरकर ठाकुर जी के आगे रखा और हाथ जोड़कर बैठा व देखता रहा कि ठाकुर जी किस तरह दूध पीते हैं? ठाकुर ने दूध कहाँ पीना था? वह तो पत्थर की मूर्ति थे। नामदेव को इस बात का पता नहीं था कि ठाकुर को चम्मच भरकर दूध लगाया जाता व शेष दूध पंडित पी जाते थे। उन्होंने विनती करनी शुरू की हे प्रभु! मैं तो आपका छोटा सा सेवक हूँ, दूध लेकर आया हूँ कृपा करके इसे ग्रहण कीजिए। भक्त ने अपनी बेचैनी इस प्रकार प्रगट की –

हे प्रभु! यह दूध मैं कपला गाय से दोह कर लाया हूँ। हे मेरे गोबिंद! यदि आप दूध पी लेंगे तो मेरा मन शांत हो जाएगा नहीं तो पिताजी नाराज होंगे। सोने की कटोरी मैंने आपके आगे रखी है। पीए! अवश्य पीए! मैंने कोई पाप नहीं किया। यदि मेरे पिताजी से प्रतिदिन दूध पीते हो तो मुझसे आप क्यों नहीं ले रहे? हे प्रभु! दया करें। पिताजी मुझे पहले ही बुरा व निकम्मा समझते हैं। यदि आज आपने दूध न पिया तो मेरी खैर नहीं। पिताजी मुझे घर से बाहर निकाल देंगे।

जो कार्य नामदेव के पिता सारी उम्र न कर सके वह कार्य नामदेव ने कर दिया। उस मासूम बच्चे को पंडितों की बईमानी का पता नहीं था। वह ठाकुर जी के आगे मिन्नतें करता रहा। अन्त में प्रभु भक्त की भक्ति पर खिंचे हुए आ गए। पत्थर की मूर्ति द्वारा हँसे। नामदेव ने इसका जिक्र इस प्रकार किया है –

ऐकु भगतु मेरे हिरदे बसै ।
नामे देखि नराइनु हसै॥ (पन्ना 1163)

एक भक्त प्रभु के हृदय में बस गया। नामदेव को देखकर प्रभु हँस पड़े। हँस कर उन्होंने दोनों हाथ आगे बढाएं और दूध पी लिया। दूध पीकर मूर्ति फिर वैसी ही हो गई।

दूधु पीआई भगतु घरि गइआ ।
नामे हरि का दरसनु भइआ॥ (पन्ना 1163 - 64)

दूध पिलाकर नामदेव जी घर चले गए। इस प्रकार प्रभु ने उनको साक्षात दर्शन दिए। यह नामदेव की भक्ति मार्ग पर प्रथम जीत थी।

शुद्ध हृदय से की हुई प्रार्थना से उनके पास शक्तियाँ आ गई। वह भक्ति भव वाले हो गए और जो वचन मुँह निकलते वही सत्य होते। जब आपके पिताजी को यह ज्ञान हुआ कि आपने ठाकुर में जान डाल दी व दूध पिलाया तो वह बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने समझा उनकी कुल सफल हो गई है।

नामदेव जी के कुछ हिन्दी अभंग

हरि नांव हीरा हरि नांव हीरा । हरि नांव लेत मिटै सब पीरा टेक।
हरि नांव जाती हरि नांव पांती । हरि नांव सकल जीवन मैं क्रांती।
हरि नांव सकल सुषन की रासी । हरि नांव काटै जम की पासी।
हरि नांव सकल भुवन ततसारा । हरि नांव नामदेव उतरे पारा।
रांम नांम ौती रांम नांम बारी । हमारै धन बाबा बनवारी टेक।
या धन की देषहु अधिकाई । तसकर हरै न लागै काई।
दहदिसि राम रह्या भरपूरि । संतनि नीयरै साकत दूरि।
नामदेव कहै मेरे क्रिसन सोई । कूंत मसाहति करै न कोई।
रांमसो धन ताको कहा अब थोरौ । अठ सिधि नव निधि करत निहोरौ टेक।
हरिन कसिब बधकरि अधपति देई । इंद्रकौ विभौ प्रहलाद न लेई।
देव दानवं जाहि संपदा करि मानै । गोविंद सेवग ताहि आपदा करि जानै।
अर्थ धरम काम की कहा मोषि मांगै । दास नांमदेव प्रेम भगति अंतरि जो जागै।

8

शंकरदेव

श्रीमन्त शंकरदेव असमिया भाषा के अत्यंत प्रसिद्ध कवि, नाटककार तथा हिन्दू समाज सुधारक थे।

जीवनचरित

श्रीमंत शंकरदेव का जन्म असम के नौगाँव जिले की बरदौवा के समीप अलिपुखुरी में हुआ। इनकी जन्मतिथि अब भी विवादास्पद है, यद्यपि प्रायः यह 1371 शक मानी जाती है। जन्म के कुछ दिन पश्चात् इनकी माता सत्यसंध्या का निधन हो गया। 21 वर्ष की उम्र में सूर्यवती के साथ इनका विवाह हुआ। मनु कन्या के जन्म के पश्चात् सूर्यवती परलोकगामिनी हुई।

शंकरदेव ने 32 वर्ष की उम्र में विरक्त होकर प्रथम तीर्थयात्रा आरंभ की और उत्तर भारत के समस्त तीर्थों का दर्शन किया। रूप और सनातन गोस्वामी से भी शंकर का साक्षात्कार हुआ था। तीर्थयात्रा से लौटने के पश्चात् शंकरदेव ने 54 वर्ष की उम्र में कालिंदी से विवाह किया। तिरहुतिया ब्राह्मण जगदीश मिश्र ने बरदौवा जाकर शंकरदेव को भागवत सुनाई तथा यह ग्रंथ उन्हें भेंट किया। शंकरदेव ने जगदीश मिश्र के स्वागतार्थ 'महानाट' के अभिनय का आयोजन किया। इसके पूर्व 'चिह्नलयात्रा' की प्रशंसा हो चुकी थी। शंकरदेव ने 1438 शक में भुइयाँ राज्य का त्याग कर अहोम राज्य में प्रवेश किया। कर्मकांडी विप्रों ने शंकरदेव के भक्ति प्रचार का घोर विरोध किया। दिहिगिया

राजा से ब्राह्मणों ने प्रार्थना की कि शंकर वेदविरुद्ध मत का प्रचार कर रहा है। कतिपय प्रश्नोत्तर के पश्चात् राजा ने इन्हें निर्दोष घोषित किया। हाथीधरा कांड के पश्चात् शंकरदेव ने अहोम राज्य को भी छोड़ दिया। पाटवाउसी में 18 वर्ष निवास करके इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की। 67 वर्ष की अवस्था में इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की। 97 वर्ष की अवस्था में इन्होंने दूसरी बार तीर्थयात्रा आरंभ की। उन्होंने कबीर के मठ का दर्शन किया तथा अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। इस यात्रा के पश्चात् वे बरपेटा वापस चले आए। कोच राजा नरनारायण ने शंकरदेव को आमंत्रित किया। कूचबिहार में 1490 शक में वे वैकुंठगामी हुए।

शंकरदेव के वैष्णव संप्रदाय का मत एक शरण है। इस धर्म में मूर्तिपूजा की प्रधानता नहीं है। धार्मिक उत्सवों के समय केवल एक पवित्र ग्रंथ चौकी पर रख दिया जाता है, इसे ही नैवेद्य तथा भक्ति निवेदित की जाती है। इस संप्रदाय में दीक्षा की व्यवस्था नहीं है।

रचनाएँ

काव्य

1. हरिश्चन्द्र उपाख्यान
2. अजामिल उपाख्यान
3. रुक्मिणी हरण काव्य
4. बलिछलन
5. अमृत मन्थन
6. गजेन्द्र उपाख्यान
7. कुरुक्षेत्र
8. गोपी-उद्धव संवाद
9. कृष्ण प्रयाण - पाण्डव निर्वारण।

भक्तितत्त्व प्रकाशक ग्रन्थ

1. भक्ति प्रदीप
2. भक्ति रत्नाकर (संस्कृत में)
3. निमि-नवसिद्ध संवाद

अनादि पातन

अनुवादमूलक ग्रन्थ

भागवत प्रथम, द्वितीय
दशम स्कन्धर आदिछोवा
द्वादश स्कन्ध
रामायण–उत्तरकाण्ड

नाटक

पत्नी प्रसाद
कालियदमन
केलिगोपाल
रुक्मिणीहरण
पारिजात हरण
राम विजय

गीत

बरगीत
भटिमा (देवभटिमा, नाटभटिमा, राजभटिमा)
टोटय
चपय

नाम-प्रसंग ग्रन्थ

1. कीर्तन
2. गुणमाला
3. मार्कण्डेयपुराण के आधार पर शंकरदेव ने 615 छंदों का हरिश्चंद्र उपाख्यान लिखा।
4. भक्तिप्रदीप में भक्तिपरक 308 छंद हैं। इसकी रचना का आधार गरुड़पुराण है।
5. हरिवंश तथा भागवतपुराण की मिश्रित कथा के सहारे इन्होंने रुक्मिणीहरण काव्य की रचना की।
6. शंकरकृत कीर्तनघोषा में ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण तथा भागवतपुराण के विविध प्रसंगों का वर्णन है।

7. वामनपुराण तथा भागवत के प्रसंगों द्वारा अनादिपतनं की रचना हुई।
8. अजामिलोपाख्यान 426 छंदों की रचना है।
9. अमृतमंथन तथा बलिछलन का निर्माण अष्टम स्कंध की दो कथाओं से हुआ है।
10. आदिदशम कवि की अत्यंत लोकप्रिय रचना है जिसें कृष्ण की बाललीला के विविध प्रसंग चित्रित हुए हैं।
11. कुरुक्षेत्र तथा निमिमनसिद्धसंवाद और गुणमाला उनकी अन्य रचनाएँ हैं।
12. उत्तरकाण्ड रामायण का छंदोबद्ध अनुवाद उन्होंने किया।
13. विप्रपत्नीप्रसाद, कालिदमनयात्रा, केलिगोपाल, रुक्मिणीहरण नाटक, पारिजात हरण, रामविजय आदि नाटकों का निर्माण शंकरदेव ने किया।
14. असमिया वैष्णवों के पवित्र ग्रंथ भक्तिरत्नाकर की रचना इन्होंने संस्कृत में की। इसमें संप्रदाय के धार्मिक सिद्धांतों का निरूपण हुआ है।

9

तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास (1511 - 1623) हिंदी साहित्य के महान कवि थे। इनका जन्म सोरों शूकरक्षेत्र, वर्तमान में कासगंज (एटा) उत्तर प्रदेश में हुआ था। कुछ विद्वान् इनका जन्म राजापुर जिला बाँदा(वर्तमान में चित्रकूट) में हुआ मानते हैं। कुछ विद्वान तुलसीदास का जन्म गोण्डा जिला के सुकरखेत को भी मानते है। इन्हें आदि काव्य रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि का अवतार भी माना जाता है। श्रीरामचरितमानस का कथानक रामायण से लिया गया है। रामचरितमानस लोक ग्रन्थ है और इसे उत्तर भारत में बड़े भक्तिभाव से पढ़ा जाता है। इसके बाद विनय पत्रिका उनका एक अन्य महत्त्वपूर्ण काव्य है। महाकाव्य श्रीरामचरितमानस को विश्व के 100 सर्वश्रेष्ठ लोकप्रिय काव्यों में 46वाँ स्थान दिया गया हैं।

तुलसीदास जी एक कवि ही नहीं लोकनायक भी थे। लोकनायक की कल्पना अलग-अलग रूपों में की जाती है। विशुद्ध रूप में लोकनायक वह व्यक्ति होता है जो अपने युग को यह बता सके कि उसकी आकांक्षा और आवश्यकता क्या है? वह केवल कहे नहीं अपने कर्मों से इस धारणा को चरितार्थ कर दे। यह भारतीय परिकल्पना है। पश्चिम से आयातित दलगत राजनीति में रंगी हुई कल्पना यह है कि लोकनायक वह होता है जो समन्वय करे, यथास्थिति बनाए रखे और परिवर्तन से दूर रहे। इन दोनों रूपों में तुलसीदास जी का अभिनंदन हुआ। हिंदी के विद्यार्थी के रूप में मैं यह सगर्व कह सकता हूँ कि कालिदास के बाद इस देश में दूसरा कोई कवि हुआ तो तुलसीदास ही हुए।

तुलसीदास पर जितना शोध हुआ है संभवत: हिंदी के किसी कवि पर नहीं हुआ है और आगे की संभावनाएँ भी समाप्त नहीं हुई हैं। अभी भी शोध चल रहे हैं। महर्षि व्यास का एक कथन है। 'यथा यथात्मा परिमृत्यतेषु महत्त्वपूर्ण गाथा श्रवणा विधने तथा तथा पश्चति वस्तु सूक्ष्मं तथ्योगतो वाग्मय सम्पृक्तम्' भगवान का गुणगान करते-करते न जाने कितनी सूक्ष्म बाते दिखाई देने लग जाती हैं। जितना उसका गहन अध्ययन किया जाए, जितना उसमें गहरा उतरा जाएँ, उतनी सूक्ष्म बातें दिखाई देने लगती हैं। इसी को आधार बनाकर गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस में कहा था-

यथा सुवंजन अंजि दृग पाहक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत शैल बनं भूतल पूजत ध्यान।

मित्रों काजलयी रचना कालातीत रचना भी हो जाती है। तुलसीदास ने कविता नहीं लिखी, इस देश का नेतृत्व करने के लिए हमें एक आचार संहिता पकड़ा दी। संस्कृति एक बहुत व्यापक शब्द है। इतना व्यापक कि किसी देश के समाज का पूरा जीवन उसमें समा जाता है। उसमें आर्थिक जीवन भी है, सामाजिक जीवन भी है, राजनैतिक जीवन भी है और नैतिक जीवन भी है। इसलिए संस्कृति हमारे लिए आचरण की संहिता है जो आत्मनियंत्रण से आरम्भ होती है और समाज नियंत्रण तक जाती है। तुलसीदास ने यही किया। प्रश्न यह है कि उन्होंने ऐसा क्यों किया? उन्हें ऐसी कौन सी जरूरत आ पड़ी थी, जबकि उस समय तक अनेक रामायण लिखे जा चुके थे, बाल्मीकि का रामायण चल रहा था फिर भी उसे लोक भाषण में करने की आवश्यकता क्यों पड़ी? मुझे लगता है इसका कारण उनका समकालीन जीवन था जिसमें राजनैतिक और आर्थिक उत्पीड़न पराकाष्ठा पर था।

'रामलला नहछू' 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' जैसी रचनाएँ जब तुलसीदास ने लिखीं तो उन्हें लगा कि हमारे मांगलिक पर्वों में जो गान गाँवों में गाए जाते हैं उनमें कहीं-कहीं श्रृंगारिकता ज्यादा हो जाती है। वहीं से उन्होंने लोक जीवन में धर्म और रामभक्ति को अनुस्यूत करना आरम्भ किया। इसीलिए 'रामलला नहछू' 'जानकीमंगल' और 'पार्वती मंगल' में उन्होंने मांगलिक पर्वों में श्रृंगारिकता की जगह राम का प्रेम और भक्ति धीरे दृधीरे जीवन में उतार दिया। उनकी आगे की रचनाएँ जिनमें 'विनय पत्रिका' 'गीतावली', 'बरवै रामायण', 'कवितावली' इत्यादि आती हैं, उनके माध्यम से उन्होंने लोकजीवन और राजनैतिक जीवन में आयी विकृतियों की चर्चा शुरू की। उनका एक चर्चित दोहा है-

हम चाकर रघुवीर के पटौ लिखौ दरबार'
तुलसी हम का होइंबौ नर के मनसबदार।

आप जानते हैं कि मनसबदारी प्रथा सबसे पहले अकबर ने चलायी थी। तुलसीदास अकबर के समकालीन थे। अकबर के दरबार के कवि चापलूसी के भाषा बाले रहे थे जनता की पीड़ा की भाषा नहीं बोल रहे थे। एक कवि ने लिखा कि- 'साह को साह अकबरा तोडरमल वजीर'। अर्थात् अब तक सबसे बड़ा बादशाह जो हुआ है वह अकबर और सबसे बड़ा वजीर टोडरमल हुआ। टोडरमल वही व्यक्ति था जिसने भूमि का बंदोबस्त पहली बार किया था। जिसने भारतीय किसानों को उनकी भूमि से अलग कर दिया था। जिसने मनसबदारी व्यवस्था के लिए आधार तैयार किया था। जिसके परिमणाम स्वरूप सारा देश भूखों मरने लगा क्योंकि मनसबदार किसानों से भूमिकर के रूप में अनाज अनिवार्यत: लेने लगे, चाहे देश में सूखा हो, बाढ़ हो या अकाल हो। ऐसे में अनेक बार भूमिका न चुका पाने की स्थिति से पूरा का पूरा गाँव खाली हो जाता था। तुलसीदास उस पीड़ा के गायक हैं-

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भली।
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी,
जीवन विहीन लोग सिद्ध मान सोच बस,
कहै एक एकन सो कहाँ जाय का करीं।

तुलसी की रचनाओं में यह भुखमरी बड़ी व्यापकता से व्याप्त है वे कवितावली में कहते हैं-'भूमिचोर भूप भए' अर्थात् उस समय के राजा भूमिचोर हो गए थे। जब किसान के पास खेत नहीं हैं तो आखिर ये खेत गए कहाँ? दरअसल, यह बेदखली की समस्या थी जो टोडरमल के द्वारा भूमि के बंदोबस्त किए जाने से आरम्भ हुई थी। तुलसीदास मध्यकाल के एकमात्र कवि हैं जो भूमि की एक व्यवस्था से उपजी भुखमरी और उत्पीड़न को अपनी कविता में बयाँ करते हैं। इसीलिए वे लोकनायक है। वे लोक की पीड़ा के गायक हैं। उस समय की समस्या सामाजिक समस्या भी थी। सामाजिक संस्कृति टूट रही थीं। सामाजिक संस्कृति में सबसे बड़ी समस्या जाति की समस्या थी। उस जाति को तुलसी दास किस प्रकार लेते हैं? कागभुसुन्डी जो रामकथा के प्रवाह को बढ़ाने वाले, ऋषि-मुनियों की कोटि में आने वाले काग हैं वे आरम्भ में दलित थे अयोध्या नगरी में जाकर रहते थे, वहाँ से बचा हुआ अन्न खाते थे। राम से छीन

कर खाते थे। पहली बार कागभुसुण्डी को एक दलित से ऋषि बनाने वाले तुलसीदास थे। तुलसीदास कवितावली में स्पष्ट रूप से कहते हैं-

धूत कहो अवधूत कहो रजपूत कहो जुलाहा कहो कोऊ।
काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब,
काहू की जाति बिगारि न सोउब,
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रूचौ सो कहौ कछु सोऊ।
माँगि के खाइबो मसीत में सोइबो,
लेइबै को एक न देइबै को दो।

तत्कालीन समाज के ताने बाने और जाति व्यवस्था की विकृति को तुलसीदस ने हमारे सामने रखा। जबकि उसी दौर के अन्य कवि नवरत्नों के रूप में अकबर के दरबार में बैठकर उसकी झूठी-प्रशंसा कर रहे थे। भारतीय समाज की उपेक्षा कर रहे थे। उस झूठी प्रशंसा को देखकर के तुलसीदास ने 'विनय पत्रिका' का प्रणयन किया, तुलसीदास भी एक दरबार में पहुँचते हैं लेकिन वह दरबार अकबर का नहीं हैं। किसी मुगल सम्राट का नहीं है। किसी पार्थिव राजा का नहीं है। वे कहते हैं-

'इन्हें प्राकृत जन गुन गाना सिर सुन धुनि राग पछताना' अर्थात अगर किसी पार्थिक मनुष्य के लिए इस वाणी का उपयोग किया जाए तो यह वाणी का अपमान है। इसलिए वे 'विनय पत्रिका' में वही पद्धति अपनाते हैं जो अकबर के दरबार में जाने के लिए अपनायी जाती थी और वे प्रार्थना करते हैं कि कलियुग से मुक्ति मिले जबकि इनके दौर के अन्य कवि वैभव की लालसा में अकबरी दरबार में जाते थे। कहना न होगा कि चारण संस्कृति के खिलाफ तुलसी राम भक्ति की संस्कृति लाते हैं और कहते है कि चारण संस्कृति इस देश में नहीं चाहिए।

तुलसीदास ने संस्कृति का उन्नयन किया- मनुष्य की संस्कृति का, परिवार की संस्कृति का, समाज की संस्कृति का और देश की संस्कृति का। मध्यकाल में पहली बार कोई कवि अपने देश का नाम लेता है-

भली भारत भूमि भलो कुल जन्म, समाज शरीर भलो लगते।

यह अपनी जन्मभूमि और देश के प्रति-गर्व का भाव है। 'धन्य देश जहँ सुरसी धरा' कह कर वे अपने देश का बखान करते हैं। यह आत्म गौरव जगाने का आत्मजागरण का और लोक जागरण का अद्‌भुत प्रयास है।

महर्षि व्यास ने महाभारत में लिखा था कि मनुष्य को त्यागशील होना चाहिए। उन्होंने कहा कि 'त्यजेत एकं कुलस्यार्थे'। अर्थात पूरे कुल के लाभ के लिए एक के लाभ को छोड़ देना चाहिए।

ग्रामस्यार्थे कुलम त्यजेत यगाँव के हित के लिए कुल के हित का त्याग कर दो 'ग्रामन्तु जनपदस्यार्थे' अर्थात् पूरे जनपद के हित के लिए अगर गाँव का हित बलिदान करना है तो कर दो। यह आज के नेताओं के लिए बड़ा सबक है। ध्यातव्य है कि बेद व्यास के सामने जनपद से बड़ी इकाई नहीं थी, लेकिन तुलसी के सामने जनपद से बड़ा देश था, देश की चर्चा करने वाले मध्यकाल में एकमात्र कवि तुलसीदास थे। इसलिए तुलसीदास हमारे राष्ट्रीय संस्कृति के उन्नायक हैं।

कागभुसून्डी केवल दलित से रामभक्त ऋषि ही नहीं हुए वे देश में नैतिकता को प्रसारित करने वाले आचार्य भी हुए। गरूण जो स्वयं विष्णु के साथ रहते हैं, वे भी आकर कागभुसून्डी से ज्ञान प्राप्त करते हैं और उनके सामने कई प्रश्न रखते हैं। रामचरित मानस के उत्तर काण्ड के दो प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पहला प्रश्न जब गरूण कागभुसून्डी से पूछते हैं कि सबसे बड़ा सुख क्या होता है और सबसे बड़ा दुख क्या होता है? आज पूरा विश्व सुख को तलाश में और दुख से मुक्ति हेतु चिन्तित तब यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाता है। तुलसी ने लिखा है- 'नहिं दरीद्र सम दुख जग माही'। दरिद्रता से बड़ा कोई दु:ख नहीं है। तुलसी ने दरिद्रता देखी थी। अकबर द्वारा प्रताडित गाँव देखे थे। उन्होंने पूरे देश को भूखा देखा था–

जायो कुल मंगन बधवनो बजायो सुनि,
भयो परिताप ताप जननी जनक को,
वारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानता हौं चारि फल चारहु चनक को।

चार चने के लिए व्याकुल तन की पीड़ा है यह। पूरा देश जब भूखे मर रहा हो तब तुलसी ने उसकी पीड़ा व्यक्त की-'नहि दरिद्र सम दुख जग माही।' इस दरिद्रता का कारण था अकबर द्वारा आर्थिक-शोषण। तुलसी ने सुख की व्याख्या में कहा कि सत्संगति से बड़ा कोई सुख नहीं है। संत को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं-

'निज परिताप द्रवै नवनीता, परहित द्रवै सो संतु पुनीता'

संतो तो वह है जो दूसरों के दुख से द्रवित होता है। गरूण का दूसरा प्रश्न था कि- मानस रोग क्या होता है? उत्तर काण्ड के कई कडवकों में मानस रोग को समझाया गया है जैसे- लोभ, मद, मोह आदि। उन्होंने कहा- मोह सभी कष्टों का कारण है। अपनापन- और परायापन ही मोह है। आज का समाज इससे गंभीर रूप से ग्रस्त है। तुलसी की संस्कृति इस देश की संस्कृति है। इस देश के सम्मान की संस्कृति है। चाहे बाल्मीकि का रामायण हो, वेदव्यास का महाभारत हो या तुलसी का रामचरित मानस ये रचनाएँ स्त्री के सम्मान को केन्द्र में रखकर लिखी गई हैं। सीता का सम्मान रामायण और रामचरित मानस के केन्द्र में है, तथा द्रोपदी का अपमान महाभारत के केन्द्र में है। इस देश ने कभी स्त्री का अपमान बर्दाश्त नहीं किया। आज कल के बलात्कारियों और भोगवादियों के लिए यह बहुत बड़ा संदेश है कि यह देश स्त्री का सम्मान देखना चाहता है और यह स्त्री का अपमान कभी बर्दाश्त नहीं करता। यह युग-युग से चली-आती हुई संस्कृति है। अंत में मैं मानस का यह दोहा पढ़ूँगा-

कामिहि नरि पियारि जिमि लोभी प्रिय जिमि दाम
तिमि रघुनाथ निरन्तर ही- प्रिय लागहु मोहे राम

चारों पुरूषार्थों में गिराने वाले, अपसंस्कृति पैदा करने वाले दो ही तत्त्व हैं- काम और दाम। आज के समाज की तमाम विकृतियाँ इन्हीं कारणों से हैं। लेकिन तुलसीदास का साहित्य जिस संस्कृति को लेकर चला है उसमें काम और दाम के लिए बहुत कम स्थान है। यह निवृत्ति के साथ-साथ प्रवृत्ति संस्कृति है जो राम के साथ धनुष-बाण लेकर चलती है।

तुलसी की सांस्कृतिक चिन्ता तब तक अधूरी है जब तक आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी परिप्रेक्ष्यों को समेंट न लिया जाए। दण्डी ने अपने ग्रंथ दस कुमार चरित में अनुभव को महत्त्व देते हुए कहा कि-

यौवन, धन-सम्पत्ति, प्रभुता और अविवेक ये चार कारण होते हैं, किसी, सांस्कृतिक पतन के लिए। इनमें से एक कारण भी किसी सांस्कृतिक पतन के लिए काफी होता है। अंत में मैं यही कहूँगा- विदित वेदतव्यस्तवम् अर्थात् जो जानना चाहिए वो आप सब जानते हैं।

जन्म

अधिकांश विद्वान तुलसीदास का जन्म स्थान राजापुर को मानने के पक्ष में हैं। यद्यपि कुछ इसे सोरों शूकरक्षेत्र भी मानते हैं। राजापुर उत्तर प्रदेश के चित्रकूट

जिला के अंतर्गत स्थित एक गाँव है। वहाँ आत्माराम दुबे नाम के एक प्रतिष्ठित संध्या नंददास भक्तिकाल में पुष्टिमार्गीय अष्टछाप के कवि नंददास जी का जन्म जनपद- कासगंज के सोरों शूकरक्षेत्र अन्तर्वेदी रामपुर (वर्त्तमान- श्यामपुर) गाँव निवासी भरद्वाज गोत्रीय सनाढ्य ब्राह्मण पं. सच्चिदानंद शुक्ल के पुत्र पं. जीवाराम शुक्ल की पत्नी चंपा के गर्भ से सम्वत्- 1572 विक्रमी में हुआ था। पं. सच्चिदानंद के दो पुत्र थे, पं. आत्माराम शुक्ल और पं. जीवाराम शुक्ल। पं. आत्माराम शुक्ल एवं हुलसी के पुत्र का नाम महाकवि गोस्वामी तुलसीदास था, जिन्होंने श्रीरामचरितमानस महाग्रंथ की रचना की थी। नंददास जी के छोटे भाई का नाम चँदहास था। नंददास जी, तुलसीदास जी के सगे चचेरे भाई थे। नंददास जी के पुत्र का नाम कृष्णदास था। नंददास ने कई रचनाएँ- रसमंजरी, अनेकार्थमंजरी, भागवत-दशम स्कंध, श्याम सगाई, गोवर्द्धन लीला, सुदामा चरित, विरहमंजरी, रूप मंजरी, रुक्मिणी मंगल, रासपंचाध्यायी, भँवर गीत, सिद्धांत पंचाध्यायी, नंददास पदावली हैं। ब्राह्मण रहते थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम हुलसी था। संवत् 1511 के श्रावण मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी तिथि के दिन अभुक्त मूल नक्षत्र में इन्हीं दम्पति के यहाँ तुलसीदास का जन्म हुआ। प्रचलित जनश्रुति के अनुसार शिशु बारह महीने तक माँ के गर्भ में रहने के कारण अत्यधिक हृष्ट पुष्ट था और उसके मुख में दाँत दिखायी दे रहे थे। जन्म लेने के साथ ही उसने राम नाम का उच्चारण किया जिससे उसका नाम रामबोला पड़ गया। उनके जन्म के दूसरे ही दिन माँ का निधन हो गया। पिता ने किसी और अनिष्ट से बचने के लिये बालक को चुनियाँ नाम की एक दासी को सौंप दिया और स्वयं विरक्त हो गये। जब रामबोला साढे पाँच वर्ष का हुआ तो चुनियाँ भी नहीं रही। वह गली-गली भटकता हुआ अनाथों की तरह जीवन जीने को विवश हो गया।

बचपन

भगवान शंकरजी की प्रेरणा से रामशैल पर रहनेवाले श्री अनन्तानन्द जी के प्रिय शिष्य श्रीनरहर्यानन्द जी (नरहरि बाबा) ने इस रामबोला के नाम से बहुचर्चित हो चुके इस बालक को ढूँढ निकाला और विधिवत उसका नाम तुलसीराम रखा। तदुपरान्त वे उसे अयोध्या (उत्तर प्रदेश) ले गये और वहाँ संवत् 1561 माघ शुक्ला पंचमी (शुक्रवार) को उसका यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न कराया। संस्कार के समय भी बिना सिखाये ही बालक रामबोला ने गायत्री-मन्त्र

का स्पष्ठ उच्चारण किया, जिसे देखकर सब लोग चकित हो गये। इसके बाद नरहरि बाबा ने वैष्णवों के पाँच संस्कार करके बालक को राम-मन्त्र की दीक्षा दी और अयोध्या में ही रहकर उसे विद्याध्ययन कराया। बालक रामबोला की बुद्धि बड़ी प्रखर थी। वह एक ही बार में गुरु-मुख से जो सुन लेता, उसे वह कंठस्थ हो जाता। वहाँ से कुछ काल के बाद गुरु-शिष्य दोनों शूकरक्षेत्र (सोरों) पहुँचे। वहाँ नरहरि बाबा ने बालक को राम-कथा सुनायी किन्तु वह उसे भली-भाँति समझ न आयी।

ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी, गुरुवार, संवत् 1583 को 29 वर्ष की आयु में राजापुर से थोडी ही दूर यमुना के उस पार स्थित एक गाँव की अति सुन्दरी भारद्वाज गोत्र की कन्या रत्नावली के साथ उनका विवाह हुआ। चूँकि गौना नहीं हुआ था। अत: कुछ समय के लिये वे काशी चले गये और वहाँ शेषसनातन जी के पास रहकर वेद-वेदांग के अध्ययन में जुट गये। वहाँ रहते हुए अचानक एक दिन उन्हें अपनी पत्नी की याद आयी और वे व्याकुल होने लगे। जब नहीं रहा गया तो गुरूजी से आज्ञा लेकर वे अपनी जन्मभूमि राजापुर लौट आये। पत्नी रत्नावली चूँकि मायके में ही थी क्योंकि तब तक उनका गौना नहीं हुआ था अत: तुलसीराम ने भयंकर अँधेरी रात में उफनती यमुना नदी तैरकर पार की और सीधे अपनी पत्नी के शयन-कक्ष में जा पहुँचे। रत्नावली इतनी रात गये अपने पति को अकेले आया देख कर आश्चर्यचकित हो गयी। उसने लोक-लज्जा के भय से जब उन्हें चुपचाप वापस जाने को कहा तो वे उससे उसी समय घर चलने का आग्रह करने लगे। उनकी इस अप्रत्याशित जिद से खीझकर रत्नावली ने स्वरचित एक दोहे के माध्यम से जो शिक्षा उन्हें दी उसने ही तुलसीराम को तुलसीदास बना दिया। रत्नावली ने जो दोहा कहा था वह इस प्रकार है–

अस्थि चर्म मय देह यह, ता सों ऐसी प्रीति !
नेकु जो होती राम से, तो काहे भव-भीत?

यह दोहा सुनते ही उन्होंने उसी समय पत्नी को वहीं उसके पिता के घर छोड़ दिया और वापस अपने गाँव राजापुर लौट गये। राजापुर में अपने घर जाकर जब उन्हें यह पता चला कि उनकी अनुपस्थिति में उनके पिता भी नहीं रहे और पूरा घर नष्ट हो चुका है तो उन्हें और भी अधिक कष्ट हुआ। उन्होंने विधि-विधान पूर्वक अपने पिता जी का श्राद्ध किया और गाँव में ही रहकर लोगों को भगवान राम की कथा सुनाने लगे।

भगवान श्री राम जी से भेंट

कुछ काल राजापुर रहने के बाद वे पुनः काशी चले गये और वहाँ की जनता को राम-कथा सुनाने लगे। कथा के दौरान उन्हें एक दिन मनुष्य के वेष में एक प्रेत मिला, जिसने उन्हें हनुमान जी का पता बतलाया। हनुमान जी से मिलकर तुलसीदास ने उनसे श्रीरघुनाथजी का दर्शन कराने की प्रार्थना की। हनुमान्जी ने कहा- 'तुम्हें चित्रकूट में रघुनाथजी दर्शन होंगें।' इस पर तुलसीदास जी चित्रकूट की ओर चल पड़े।

चित्रकूट पहुँच कर उन्होंने रामघाट पर अपना आसन जमाया। एक दिन वे प्रदक्षिणा करने निकले ही थे कि यकायक मार्ग में उन्हें श्रीराम के दर्शन हुए। उन्होंने देखा कि दो बड़े ही सुन्दर राजकुमार घोड़ों पर सवार होकर धनुष-बाण लिये जा रहे हैं। तुलसीदास उन्हें देखकर आकर्षित तो हुए, परन्तु उन्हें पहचान न सके। तभी पीछे से हनुमान्जी ने आकर जब उन्हें सारा भेद बताया तो वे पश्चाताप करने लगे। इस पर हनुमान्जी ने उन्हें सांत्वना दी और कहा प्रातःकाल फिर दर्शन होंगे।

संवत् 1607 की मौनी अमावस्या को बुधवार के दिन उनके सामने भगवान श्री राम जी पुनः प्रकट हुए। उन्होंने बालक रूप में आकर तुलसीदास से कहा-'बाबा! हमें चन्दन चाहिये। क्या आप हमें चन्दन दे सकते हैं?' हनुमान जी ने सोचा, कहीं वे इस बार भी धोखा न खा जायें, इसलिये उन्होंने तोते का रूप धारण करके यह दोहा कहा–

चित्रकूट के घाट पर, भइ सन्तन की भीर।
तुलसीदास चन्दन घिसें, तिलक देत रघुबीर॥

तुलसीदास भगवान श्री राम जी की उस अद्भुत छवि को निहार कर अपने शरीर की सुध-बुध ही भूल गये। अन्ततोगत्वा भगवान ने स्वयं अपने हाथ से चन्दन लेकर अपने तथा तुलसीदास जी के मस्तक पर लगाया और अन्तर्ध्यान हो गये।

संस्कृत में पद्य-रचना

संवत् 1628 में वह हनुमान जी की आज्ञा लेकर अयोध्या की ओर चल पड़े। उन दिनों प्रयाग में माघ मेला लगा हुआ था। वे वहाँ कुछ दिन के लिये ठहर गये। पर्व के छः दिन बाद एक वटवृक्ष के नीचे उन्हें भारद्वाज और

याज्ञवल्क्य मुनि के दर्शन हुए। वहाँ उस समय वही कथा हो रही थी, जो उन्होने सूकरक्षेत्र में अपने गुरु से सुनी थी। माघ मेला समाप्त होते ही तुलसीदास जी प्रयाग से पुनः वापस काशी आ गये और वहाँ के प्रह्लादघाट पर एक ब्राह्मण के घर निवास किया। वहीं रहते हुए उनके अन्दर कवित्व-शक्ति का प्रस्फुरण हुआ और वे संस्कृत में पद्य-रचना करने लगे। परन्तु दिन में वे जितने पद्य रचते, रात्रि में वे सब लुप्त हो जाते। यह घटना रोज घटती। आठवें दिन तुलसीदास जी को स्वप्न हुआ। भगवान शंकर ने उन्हें आदेश दिया कि तुम अपनी भाषा में काव्य रचना करो। तुलसीदास जी की नींद उचट गयी। वे उठकर बैठ गये। उसी समय भगवान शिव और पार्वती उनके सामने प्रकट हुए। तुलसीदास जी ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। इस पर प्रसन्न होकर शिव जी ने कहा- 'तुम अयोर्ध्या में जाकर रहो और हिन्दी में काव्य-रचना करो। मेरे आशीर्वाद से तुम्हारी कविता सामवेद के समान फलवती होगी।' इतना कहकर गौरीशंकर अन्तर्ध्यान हो गये। तुलसीदास जी उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर काशी से सीधे अयोध्या चले गये।

रामचरितमानस की रचना

संवत् 1631 का प्रारम्भ हुआ। दैवयोग से उस वर्ष रामनवमी के दिन वैसा ही योग आया जैसा त्रेतायुग में राम-जन्म के दिन था। उस दिन प्रातःकाल तुलसीदास जी ने श्रीरामचरितमानस की रचना प्रारम्भ की। दो वर्ष, सात महीने और छ्ब्बीस दिन में यह अद्‌भुत ग्रन्थ सम्पन्न हुआ। संवत् 1633 के मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष में राम-विवाह के दिन सातों काण्ड पूर्ण हो गये।

इसके बाद भगवान की आज्ञा से तुलसीदास जी काशी चले आये। वहाँ उन्होंने भगवान विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णा को श्रीरामचरितमानस सुनाया। रात को पुस्तक विश्वनाथ-मन्दिर में रख दी गयी। प्रातःकाल जब मन्दिर के पट खोले गये तो पुस्तक पर लिखा हुआ पाया गया-सत्यं शिवं सुन्दरम् जिसके नीचे भगवान शंकर की सही (पुष्टि) थी। उस समय वहाँ उपस्थित लोगों ने 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की आवाज भी कानों से सुनी।

इधर काशी के पण्डितों को जब यह बात पता चली तो उनके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वे दल बनाकर तुलसीदास जी की निन्दा और उस पुस्तक को नष्ट करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने पुस्तक चुराने के लिये दो चोर भी भेजे। चोरों ने जाकर देखा कि तुलसीदास जी की कुटी के आसपास दो युवक धनुषबाण लिये पहरा दे रहे हैं। दोनों युवक बड़े ही सुन्दर क्रमशः श्याम और गौर वर्ण के

थे। उनके दर्शन करते ही चोरों की बुद्धि शुद्ध हो गयी। उन्होंने उसी समय से चोरी करना छोड़ दिया और भगवान के भजन में लग गये। तुलसीदास जी ने अपने लिये भगवान को कष्ट हुआ जान कुटी का सारा समान लुटा दिया और पुस्तक अपने मित्र टोडरमल (अकबर के नौरत्नों में एक) के यहाँ रखवा दी। इसके बाद उन्होंने अपनी विलक्षण स्मरण शक्ति से एक दूसरी प्रति लिखी। उसी के आधार पर दूसरी प्रतिलिपियाँ तैयार की गयीं और पुस्तक का प्रचार दिनों-दिन बढ़ने लगा।

इधर काशी के पण्डितों ने और कोई उपाय न देख श्री मधुसूदन सरस्वती नाम के महापण्डित को उस पुस्तक को देखकर अपनी सम्मति देने की प्रार्थना की। मधुसूदन सरस्वती जी ने उसे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और उस पर अपनी ओर से यह टिप्पणी लिख दी-

आनन्दकानने ह्यास्मिंजंगमस्तुलसीतरुः।
कवितामंजरी भाति रामभ्रमरभूषिता॥

इसका हिन्दी में अर्थ इस प्रकार है-'काशी के आनन्द-वन में तुलसीदास साक्षात् चलता-फिरता तुलसी का पौधा है। उसकी काव्य-मंजरी बड़ी ही मनोहर है, जिस पर श्रीराम रूपी भँवरा सदा मँडराता रहता है।'

पण्डितों को उनकी इस टिप्पणी पर भी संतोष नहीं हुआ। तब पुस्तक की परीक्षा का एक अन्य उपाय सोचा गया। काशी के विश्वनाथ-मन्दिर में भगवान विश्वनाथ के सामने सबसे ऊपर वेद, उनके नीचे शास्त्र, शास्त्रों के नीचे पुराण और सबके नीचे रामचरितमानस रख दिया गया। प्रातःकाल जब मन्दिर खोला गया तो लोगों ने देखा कि श्रीरामचरितमानस वेदों के ऊपर रखा हुआ है। अब तो सभी पण्डित बड़े लज्जित हुए। उन्होंने तुलसीदास जी से क्षमा माँगी और भक्ति-भाव से उनका चरणोदक लिया।

मृत्यु

तुलसीदास जी जब काशी के विख्यात् घाट असीघाट पर रहने लगे तो एक रात कलियुग मूर्त रूप धारण कर उनके पास आया और उन्हें पीड़ा पहुँचाने लगा। तुलसीदास जी ने उसी समय हनुमान जी का ध्यान किया। हनुमान जी ने साक्षात् प्रकट होकर उन्हें प्रार्थना के पद रचने को कहा, इसके पश्चात् उन्होंने अपनी अन्तिम कृति विनय-पत्रिका लिखी और उसे भगवान के चरणों में समर्पित कर

दिया। श्रीराम जी ने उस पर स्वयं अपने हस्ताक्षर कर दिये और तुलसीदास जी को निर्भय कर दिया।

संवत् 1680 में श्रावण कृष्ण तृतीया शनिवार को तुलसीदास जी ने 'राम-राम' कहते हुए अपना शरीर परित्याग किया।

तुलसी-स्तवन

तुलसीदास जी की हस्तलिपि अत्यधिक सुन्दर थी, लगता है जैसे उस युग में उन्होंने कैलोग्राफी की कला आती थी। उनके जन्म-स्थान राजापुर के एक मन्दिर में श्रीरामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड की एक प्रति सुरक्षित रखी हुई है। उसी प्रति के साथ रखे हुए एक कवि मदनलाल वर्मा 'क्रान्त' की हस्तलिपि में तुलसी के व्यक्तित्व व कृतित्त्व को रेखांकित करते हुए निम्नलिखित दो छन्द भी उल्लेखनीय हैं जिन्हें हिन्दी अकादमी दिल्ली की पत्रिका इन्द्रप्रस्थ भारती ने सर्वप्रथम प्रकाशित किया था। इनमें पहला छन्द सिंहावलोकन है जिसकी विशेषता यह है कि प्रत्येक चरण जिस शब्द से समाप्त होता है उससे आगे का उसी से प्रारम्भ होता है। प्रथम व अन्तिम शब्द भी एक ही रहता है। काव्यशास्त्र में इसे अद्‌भुत छन्द कहा गया है। यही छन्द एक अन्य पत्रिका साहित्यपरिक्रमा के तुलसी जयन्ती विशेषांक में भी प्रकाशित हुए थे वहीं से उद्‌धृत किये गये हैं।

तुलसी ने मानस लिखा था जब जाति-पाँति-सम्प्रदाय-ताप से धरम-धरा झुलसी।

झुलसी धरा के तृण-संकुल पे मानस की पावसी-फुहार से हरीतिमा-सी हुलसी।

हुलसी हिये में हरि-नाम की कथा अनन्त सन्त के समागम से फूली-फली कुल-सी।

कुल-सी लसी जो प्रीति राम के चरित्र में तो राम-रस जग को चखाय गये तुलसी।

आत्मा थी राम की पिता में सो प्रताप-पुन्ज आप रूप गर्भ में समाय गये तुलसी।

जन्मते ही राम-नाम मुख से उचारि निज नाम रामबोला रखवाय गये तुलसी।

रत्नावली-सी अर्धांगिनी सों सीख पाय राम सों प्रगाढ प्रीति पाय गये तुलसी।

मानस में राम के चरित्र की कथा सुनाय राम-रस जग को चखाय गये तुलसी।

तुलसीदास की रचनाएँ

अपने 126 वर्ष के दीर्घ जीवन-काल में तुलसीदास ने कालक्रमानुसार निम्नलिखित कालजयी ग्रन्थों की रचनाएँ कीं -

रामललानहछू, वैराग्यसंदीपनी, रामाज्ञाप्रश्न, जानकी-मंगल, रामचरितमानस, सतसई, पार्वती-मंगल, गीतावली, विनय-पत्रिका, कृष्ण-गीतावली, बरवै रामायण, दोहावली और कवितावली।

इनमें से रामचरितमानस, विनय-पत्रिका, कवितावली, गीतावली जैसी कृतियों के विषय में किसी कवि की यह आर्षवाणी सटीक प्रतीत होती है - पश्य देवस्य काव्यं, न मृणोति न जीर्यति। अर्थात देवपुरुषों का काव्य देखिये जो न मरता न पुराना होता है।

लगभग चार सौ वर्ष पूर्व तुलसीदास जी ने अपनी कृतियों की रचना की थी। आधुनिक प्रकाशन-सुविधाओं से रहित उस काल में भी तुलसीदास का काव्य जन-जन तक पहुँच चुका था। यह उनके कवि रूप में लोकप्रिय होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। मानस जैसे वृहद् ग्रन्थ को कण्ठस्थ करके सामान्य पढ़े लिखे लोग भी अपनी शुचिता एवं ज्ञान के लिए प्रसिद्ध होने लगे थे।

रामचरितमानस तुलसीदास जी का सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। उन्होंने अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है, इसलिए प्रामाणिक रचनाओं के सम्बन्ध में अन्तःसाक्ष्य का अभाव दिखायी देता है। नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ इस प्रकार हैं–

- रामचरितमानस
- रामललानहछू
- वैराग्य-संदीपनी
- बरवै रामायण
- पार्वती-मंगल
- जानकी-मंगल
- रामाज्ञाप्रश्न
- दोहावली
- कवितावली

- गीतावली
- श्रीकृष्ण-गीतावली
- विनय-पत्रिका
- सतसई
- छंदावली रामायण
- कुंडलिया रामायण
- राम शलाका
- संकट मोचन
- करखा रामायण
- रोला रामायण
- झूलना
- छप्पय रामायण
- कवित्त रामायण
- कलिधर्माधर्म निरूपण
- हनुमान चालीसा

'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एंड एथिक्स' में ग्रियर्सन ने भी उपरोक्त प्रथम बारह ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

कुछ ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण

रामललानहछू

यह संस्कार गीत है। इस गीत में कतिपय उल्लेख राम-विवाह की कथा से भिन्न हैं।

गोद लिहैं कौशल्या बैठि रामहिं वर हो।
सोभित दूलह राम सीस, पर आंचर हो।।

वैराग्य संदीपनी

वैराग्य संदीपनी को माताप्रसाद गुप्त ने अप्रामाणिक माना है, पर आचार्य चंद्रवली पांडे इसे प्रामाणिक और तुलसी की आरंभिक रचना मानते हैं। कुछ और प्राचीन प्रतियों के उपलब्ध होने से ठोस प्रमाण मिल सकते हैं। संत महिमा वर्णन का पहला सोरठा पेश है -

को बरनै मुख एक, तुलसी महिमा संत।
जिन्हके विमल विवेक, सेष महेस न कहि सकत॥

बरवै रामायण

विद्वानों ने इसे तुलसी की रचना घोषित किया है। शैली की दृष्टि से यह तुलसीदास की प्रामाणिक रचना है। इसकी खंडित प्रति ही ग्रंथावली में संपादित है।

पार्वती-मंगल

यह तुलसी की प्रामाणिक रचना प्रतीत होती है। इसकी काव्यात्मक प्रौढ़ता तुलसी सिद्धांत के अनुकूल है। कविता सरल, सुबोध रोचक और सरस है। 'जगत मातु पितु संभु भवानी' कीश्रृंगारिक चेष्टाओं का तनिक भी पुट नहीं है। लोक रीति इतनी यथास्थिति से चित्रित हुई है कि यह संस्कृत के शिव काव्य से कम प्रभावित है और तुलसी की मति की भक्तयात्मक भूमिका पर विरचित कथा काव्य है। व्यवहारों की सुष्ठुता, प्रेम की अनन्यता और वैवाहिक कार्यक्रम की सरसता को बड़ी सावधानी से कवि ने अंकित किया है। तुलसीदास अपनी इस रचना से अत्यन्त संतुष्ट थे, इसीलिए इस अनासक्त भक्त ने केवल एक बार अपनी मति की सराहना की है –

प्रेम पाट पटडोरि गौरि-हर-गुन मनि।
मंगल हार रचेउ कवि मति मृगलोचनि॥

जानकी-मंगल

विद्वानों ने इसे तुलसीदास की प्रामाणिक रचनाओं में स्थान दिया है। पर इसमें भी क्षेपक है।

पंथ मिले भृगुनाथ हाथ फरसा लिए।
डाँटहि आँखि देखाइ कोप दारुन किए॥
राम कीन्ह परितोष रोस रिस परिहरि।
चले सौंपि सारंग सुफल लोचन करि॥
रघुबर भुजबल देख उछाह बरातिन्ह।
मुदित राउ लखि सन्मुख विधि सब भाँतिन्ह॥

तुलसी के मानस के पूर्व वाल्मीकीय रामायण की कथा ही लोक प्रचलित थी। काशी के पंडितों से मानस को लेकर तुलसीदास का मतभेद और मानस की प्रति पर विश्वनाथ का हस्ताक्षर संबंधी जनश्रुति प्रसिद्ध है।

रामाज्ञा प्रश्न

यह ज्योतिष शास्त्रीय पद्धति का ग्रंथ है। दोहों, सप्तकों और सर्गों में विभक्त यह ग्रंथ रामकथा के विविध मंगल एवं अमंगलमय प्रसंगों की मिश्रित रचना है। काव्य की दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्त्व नगण्य है। सभी इसे तुलसीकृत मानते हैं। इसमें कथा-शृंखला का अभाव है और वाल्मीकीय रामायण के प्रसंगों का अनुवाद अनेक दोहों में है।

दोहावली

दोहावली में अधिकांश दोहे मानस के हैं। कवि ने चातक के व्याज से दोहों की एक लंबीशृंखला लिखकर भक्ति और प्रेम की व्याख्या की है। दोहावली दोहा संकलन है। मानस के भी कुछ कथा निरपेक्ष दोहों को इसमें स्थान है। संभव है कुछ दोहे इसमें भी प्रक्षिप्त हों, पर रचना की अप्रामाणिकता असंदिग्ध है।

कवितावली

कवितावली तुलसीदास की रचना है, पर सभा संस्करण अथवा अन्य संस्करणों में प्रकाशित यह रचना पूरी नहीं प्रतीत होती है। कवितावली एक प्रबंध रचना है। कथानक में अप्रासंगिकता एवं शिथिलता तुलसी की कला का कलंक कहा जायेगा।

गीतावली

गीतावली में गीतों का आधार विविध कांड का रामचरित ही रहा है। यह ग्रंथ रामचरितमानस की तरह व्यापक जनसम्पर्क में कम गया प्रतीत होता है। इसलिए इन गीतों में परिवर्तन-परिवर्द्धन दृष्टिगत नहीं होता है। गीतावली में गीतों के कथा - संदर्भ तुलसी की मति के अनुरूप हैं। इस दृष्टि से गीतावली का एक गीत लिया जा सकता है -

कैकेयी जौ लौं जियत रही।
तौ लौं बात मातु सों मुह भरि भरत न भूलि कही॥

मानी राम अधिक जननी ते जननिहु गँसन गही।
सीय लखन रिपुदवन राम-रुख लखि सबकी निबही॥
लोक-बेद-मरजाद दोष गुन गति चित चखन चही।
तुलसी भरत समुझि सुनि राखी राम सनेह सही॥

इसमें भरत और राम के शील का उत्कर्ष तुलसीदास ने व्यक्त किया है। गीतावली के उत्तरकांड में मानस की कथा से अधिक विस्तार है। इसमें सीता का वाल्मीकि आश्रम में भेजा जाना वर्णित है। इस परित्याग का औचित्य निर्देश इन पंक्तियों में मिलता है -

भोग पुनि पितु-आयु को, सोउ किए बनै बनाउ।
परिहरे बिनु जानकी नहीं और अनघ उपाउ॥
पालिबे असिधार-ब्रत प्रिय प्रेम-पाल सुभाउ।
होइ हित केहि भांति, नित सुविचारु नहिं चित चाउ॥

श्रीकृष्ण गीतावली

श्रीकृष्ण गीतावली भी गोस्वामीजी की रचना है। श्रीकृष्ण-कथा के कतिपय प्रकरण गीतों के विषय हैं।

हनुमानबाहुक

यह गोस्वामी जी की हनुमत-भक्ति संबंधी रचना है। पर यह एक स्वतंत्र रचना है। इसके सभी अंश प्रामाणिक प्रतीत होते हैं।

तुलसीदास को राम प्यारे थे, राम की कथा प्यारी थी, राम का रूप प्यारा था और राम का स्वरूप प्यारा था। उनकी बुद्धि, राग, कल्पना और भावुकता पर राम की मर्यादा और लीला का आधिपत्य था। उनक आंखों में राम की छवि बसती थी। सब कुछ राम की पावन लीला में व्यक्त हुआ है जो रामकाव्य की परम्परा की उच्चतम उपलब्धि है। निर्दिष्ट ग्रंथों में इसका एक रस प्रतिबिंब है।

तुलसीदास के काव्य में समन्वय भावना

हिन्दी साहित्य के स्वर्णयुग के एक महान भक्त, प्रबुद्ध कवि एवं तत्त्व दृष्टा दार्शनिक महाकवि तुलसीदास ने अपने साहित्य के माध्यम से समन्वय की जो विराट साधना की है वो आज तक भारतीय जनमानस को प्रभावित किए हुए है। इसका कारण एक ओर उनकी सुन्दर काव्यशक्ति है तो दूसरी ओर उनके

काव्य का धार्मिक स्वरूप भी है। इनका काव्य एक कवि की प्रेरणा ही नहीं बल्कि एक गहरे अध्ययन व चिंतन का वह जागरूक स्वरूप है जिसे कवि ने सोच-समझकर प्रस्तुत किया है और इसीलिए इनका समन्वय प्रयास इनकी लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण बन गया जिसका समर्थन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने करते हुए कहा है कि तुलसीदास के काव्य की सफलता का एक और रहस्य उनकी अपूर्व समन्वय शक्ति में है।

तुलसीदास का व्यक्तित्व ही अनेक विरोधाभासों का समुच्च्य रहा है। आर्थिक विपन्नता के कारण इन्हें दर-दर भटकना पडा तो लक्ष्मी ने इनकी चरण वन्दना भी की। समाज ने इनको अपमानित भी किया और सर्वोच्च सम्मान भी दिया। ये रति-रंग में आकंठ मग्न भी हुए और परम वियोगी संत भी। कहने का तात्पर्य यह है कि ये सच्चे अर्थों में संत थे। ऐसे संत जिसने भौतिक वैभव की क्षणभंगुरता को पहचान लिया हो तथा आत्म-साक्षत्कार के उस सोपान पर पहुँच गया हो जहाँ मोहाकर्षण निरर्थक हो जाते हैं। इनकी दृष्टि में साम्प्रदायिक या भाषागत विवाद महत्त्वहीन अथवा पाखंडी मस्तिष्क की उपज थे और इसीलिए उन्होंने सदैव समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया।

'समन्वय' शब्द के सन्दर्भानुसार कई अर्थ हैं। व्यापक रूप में इसका अर्थ पारस्परिक संबंधों के निर्वाह से लगाया जाता है लेकिन इसका एक विशिष्ट अर्थ में भी प्रयोग होता है और वह है- 'विरोधी प्रतीत होने वाली वस्तुओं, बातों या विचारों के विरोध को दूर करके उनमें सामंजस्य बिठाना।' तुलसी ने जिस समय साहित्य में प्रवेश किया उस समय के समाज, धर्म, राजनीति, भक्ति, साहित्य तथा लोगों के जीवन में अनेक परिस्थितियाँ परस्पर एक दूसरे के विरोध में खडे होकर जनमानस के जीवन को कठिन बना रही थीं। धर्म के क्षेत्र में शैव, वैष्णव व शाक्तों के रूप में विभिन्न सम्प्रदाय दिन-प्रतिदिन कट्टरता की ओर बढ रहे थे। सगुणोपासक जहाँ निर्गुण मार्ग को नीरस बताकर उसकी निन्दा कर रहे थे तो निर्गुणपंथी भी सगुण भक्ति का विरोध कर रहे थे। जनता ज्ञान, कर्म और भक्ति के बीच चुनाव को लेकर असमंजस में थी। सभी वैष्णव आचार्य शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद और माया के विरोधी थे तो सभी अद्वैतवादी मध्वाचार्य के द्वैतवाद के विपक्षी हो गए थे। राजा और प्रजा, वेदशास्त्र और व्यवहार के बीच का फासला निरन्तर बढता जा रहा था। पारिवारिक संबंधों में और वर्णाश्रमधर्म में वैषम्य फैल रहा था। ऐसे समय में सभी साहित्यिक विद्वान अपने अपने स्तर पर इन परिस्थितियों से जूझने का प्रयास कर रहे थे। जायसी ने फारसी मसनबी

शैली में भारतीय प्रेम व लोक कथाओं को पिरोकर प्रेम का संदेश दिया तो कबीर ने भी हिन्दु-मुसलमान, उच्च-निम्न, अमीर-गरीब आदि भेदों का विरोध कर समाज में सामंजस्य बिठाने का प्रयास किया। परन्तु इस क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण व सराहनीय कार्य यदि किसी ने किया है तो वह गोस्वामी तुलसीदास ने। इन्होंने इन सभी विरोधों को बहुत अंशों में दूर कर अपनी समन्वयवादी दृष्टि का परिचय दिया और अपना एक निश्चित दार्शनिक मत स्थापित किया जो मुख्यत: रामचरितमानस और विनयपत्रिका में दृष्टिगत होता है। इसीलिए आचार्य द्विवेदी ने उनको बुद्ध के बाद सबसे बड़ा लोकनायक सिद्ध करते हुए कहा है- ''लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके।....तुलसीदास महात्मा बुद्ध के बाद भारत के सबसे बड़े लोकनायक थे।''

भक्तिकाल में ब्रह्म के सगुण व निर्गुण स्वरूप को लेकर जो विवाद चला उसपर भारतीय दर्शन में बहुत गम्भीर चिन्तन-मनन हुआ है। शंकराचार्य के अनुसार तत्त्व केवल एक है-'ब्रह्म'। ये ब्रह्म को स्वरूपत: निर्गुण व निराकार मानते हैं जबकि वल्लभाचार्य ने सगुण ब्रह्म को पारमार्थिक सत्य माना है लेकिन तुलसीदास के अनुसार राम के दोनों रूप- निर्गुण और सगुण परमार्थत: सत्य हैं-

''अगुन सगुन दुई ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाथ अनादि अनूपा।।''

तुलसीदास के अनुसार निर्गुण और सगुण में कोई तात्विक भेद नहीं है, केवल वेश का अन्तर है। दोनों स्वरूपों की अभेदता को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने दृष्टान्त भी दिया है-

''एक दारूगत देखिए एकू।
पावक जुग सम ब्रह्म विवेकू।।''

अर्थात् अग्नि के दो रूप हैं, एक अव्यक्त और एक व्यक्त। इसका दारूगत अव्यक्त रूप ही व्यक्त होने पर दृश्यमान हो जाता है। उसी प्रकार ईश्वर का भी जो निर्गुण व निराकार रूप है, जो दृष्टव्य नहीं है, वही प्रकट होने पर सगुण व साकार रूप में दिखाई देने लगता है-

''अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।''

और तुलसी के राम उसी निर्गुण ईश्वर का सगुण साकार व अवतरित रूप हैं। हालांकि तुलसीदास के संबंध में यह कहना भी गलत न होगा कि उन्होंने निर्गुण की अपेक्षा सगुण की उपासना को ही अधिक श्रेयस्कर माना है क्योंकि

इनके मतानुसार निर्गुणोपासना केवल योगियों और ज्ञानियों तक ही सीमित है जबकि सगुणोपासना के अधिकारी सभी मनुष्य हैं। वह सुरसरि के समान सबका हित करने वाली है। लेकिन साथ ही जिस प्रकार इन्होंने अपने राम को एक ही साथ निर्गुण और सगुण, निराकार और साकार, अव्यक्त और व्यक्त, अंतर्यामी और बहिर्यामी, गुणातीत और गुणाश्रय दिखाकर जो समन्वय भक्ति के क्षेत्र में दिखाया है वह अद्‌भुत है।

सगुण और निर्गुण का यह विवाद भक्ति के अतिरिक्त दार्शनिक क्षेत्र में भी था। तुलसी से पूर्व सभी विद्वान शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरोधी थे और इसीलिए सभी ने अलग-अलग विचारधाराओं की प्रतिष्ठा करते हुए अद्वैतवाद का खंडन किया। लेकिन तुलसी शंकर के ब्रह्मवाद और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद दोनों से ही प्रभावित थे और यही नहीं इनके अलावा अन्य मतों से भी तुलसी ने विचार ग्रहण किए हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि उपनिषदों और वेद सम्प्रदायों में जो मान्यताएं समान रूप से पाई जाती हैं वे तुलसी को स्वीकार्य हैं परन्तु जहाँ अद्वैतवादियों और वैष्णव-वेदान्तियों में मतभेद है वहाँ उन्होंने समन्वयवादी दृष्टि से काम लिया है। उन्होंने 'विनयपत्रिका' में अद्वैतवाद के अनुसार ही ब्रह्म को परम सत्य मानकर जगत को मिथ्या घोषित किया है और माया का स्वरूप भी अद्वैतवाद के अनुरूप ही ग्रहण किया है लेकिन साथ ही विशिष्टाद्वैतवाद के अनुयायी होने के कारण जीव को ईश्वर का अंश मानकर उसे ईश्वर की ही भांति चेतन व अविनाशी भी माना है-

''ईश्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी।।''

दार्शनिक क्षेत्र में प्रचलित तत्कालीन विचारधाराओं के साथ-साथ धार्मिक वैमनस्य को मिटाने का प्रयास तुलसी ने किया है। उस समय हिन्दू-मुस्लिम समस्या तो थी ही, हिन्दुओं में भी वैष्णव-शैव-शाक्त व स्मार्त आदि अनेक सम्प्रदाय थे और इनके भी अनेक उप-सम्प्रदाय थे जिनमें प्रायः संघर्ष होता रहता था। तुलसीदास की समन्वयवादी दृष्टि ने इस विवाद को समाप्त करने के अनथक प्रयास किए। मुख्य द्वन्द्व शैवों और वैष्णवों में था इसलिए तुलसी ने इस ओर भी ध्यान दिया। आचार्य शुक्ल के शब्दों में कहें तो- ''शैवों और वैष्णवों के बीच बढते हुए विद्वेष को उन्होंने अपनी सामंजस्य व्यवस्था द्वारा बहुत कुछ रोका जिसके कारण उत्तरी भारत में वैसी भयंकर रूप न धारण कर सकी जैसा उसने दक्षिण में किया।''

इसी के चलते तुलसी ने राम की कथा शिव-मुख से कहलवाई। यही नहीं उन्होंने शिव के मुख से राम की प्रशंसा भी करवाई है वहीं दूसरी और शिव के ही अंश रूप हनुमान के द्वारा राम की भक्ति तुलसी ने करवाई है, तो राम के द्वारा भी जगह-जगह शिव की भक्ति व आराधना करवाई है और राम के मुख से भी कहलवाया है-

''सिव द्रोही मम दास कहावा।
सो नर सपनेहुं मोहि नहिं पावा॥''

इस प्रकार तुलसी ने राम और शिव का परस्पर आत्मीय संबंध अपने साहित्य में निरूपित किया है। यद्यपि तुलसी मूलतः राम भक्त हैं, किन्तु उन्होंने कहीं भी राम को शिव से श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की है। दोनों को समान महत्त्व दिया है। लंका प्रयाण के समय सागर पर सेतु-बंधन के पश्चात् शिव की आराधना व शिवलिंग की स्थापना, 'रामचरितमानस' में राम कथा से पूर्व शिव-कथा, 'पार्वती-मंगल' की स्वतंत्र रचना और 'विनयपत्रिका' में 12 पदों में शिव की वंदना आदि इनके इसी प्रयास का हिस्सा है।

अपने इस समन्वय के प्रयास में तुलसी ने ज्ञान व भक्ति के अन्तर को भी पाटने का प्रयास किया है। वैष्णव आचार्य भक्ति को श्रेष्ठ मानकर चल रहे थे जबकि सांख्य योग में ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। अतः तुलसी ने दोनों का समन्वय करते हुए विरति-विवेक संयुक्त भक्ति और ज्ञानी भक्त को श्रेष्ठ बतलाया है-

''श्रुति सम्मत हरि भगति पंथ संजुत विरति विवेक।''

यद्यपि तुलसी ने ज्ञान मार्ग को तलवार की धार के समान तीक्ष्ण और दुरूह भी बताया है लेकिन साथ ही वे यह भी कहते हैं कि साध्य की दृष्टि से ज्ञान भक्ति में कोई अन्तर नहीं है-

''भगतिहिं ग्यानहिं नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव सम्भव खेदा॥''

इसलिए वे केवल भक्ति या कोरे ज्ञान की अपेक्षा भक्ति समन्वित ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं।

इस सबके अतिरिक्त तुलसीकालीन शासन व्यवस्था भी कई प्रकार के अन्तर्विरोधों से ग्रस्त हो चुकी थी। मुगल शासकों का असली उद्देश्य प्रजा-पालन और प्रजा-रंजन न होकर अपने साम्राज्य की स्थापना, निजी योग क्षेम और भोग विलास ही था और इसके लिए जनता की मेहनत की कमाई खर्च की जा रही

थी इसलिए प्रजा भी असंतुष्ट होकर अपने मन मुताबिक रास्ते पर चलने के लिए बाध्य थी। अर्थात् राजा और प्रजा के बीच की दूरी निरन्तर बढती जा रही थी जो कि समाज के लिए बहुत खेदजनक बात थी। तुलसी ने 'रामचरितमानस' के उत्तर कांड में कलियुग वर्णन के माध्यम से इसी स्थिति का चित्रण किया है और मात्र चित्रण ही नहीं किया है बल्कि इस स्थिति को सुधारने का, इनके फासले को कम करने का प्रयास भी किया है। 'रामराज्य' के रूप में एक आदर्श शासन व्यवस्था की स्थापना अपने साहित्य के माध्यम से करते हुए तुलसी बताते हैं कि किसी भी देश और समाज की सुख-समृद्धि के लिए शासक व जनता का समन्वित प्रयास अपेक्षित है। उनके अनुसार एक शासक या कहें कि अच्छे शासक को मुख की भांति होना चाहिए जो समस्त शरीर रूपी प्रजा का पालन-पोषण भली प्रकार से करे-

''मुखिया मुख सो चाहिए खान पान कौ एक।
पालई पोषई सकल अंग तुलसी सहित विवेक।।''

साथ ही वे यह भी कहते हैं कि सिर्फ एकतरफा प्रयास ही इस सामंजस्य के लिए पर्याप्त नहीं है, प्रजा को भी अपना पूरा सहयोग देना चाहिए और इसीलिए उन्होंने एक अच्छे सेवक के कर्त्तव्य निर्धारित करते हुए उन्होंने कहा है-

''सेवक कर पद नयन से, मुख सो साहिबु होय।''

और इस प्रकार दोनों की सामंजस्यपूर्ण भागीदारी से ही जीवन सुचारू रूप से चल सकता है। यह समन्वय और सहयोग केवल राजा-प्रजा के लिए ही नहीं बल्कि एक परिवार के लिए, उसके सदस्यों के लिए भी उतना ही आवश्यक है। और फिर पारिवारिक व नैतिक मूल्यों के पक्षधर मर्यादावादी तुलसी ने देखा कि समाज में पारिवारिक मान्यताएँ लगभग समाप्त होती जा रही हैं। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-भाई में जो स्नेह संबंध होना चाहिए वह भी लगभग समाप्ति की ओर है। पिता और पुत्र दोनों स्वार्थ प्रेरित हैं। पति-पत्नी के संबंधों में आत्मीयता का दिखावा अधिक हो गया है। पुत्र शादी होते ही पत्नी का साथ पाकर माता-पिता को बेसहारा छोड देता है। शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानार्जन न होकर धनार्जन रह गया है। पुरुष 'परत्रिय लंपट कपट सयाने' हो गए हैं और स्त्रियाँ 'गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारी पर पुरूष अभागी।।' हो गई हैं। तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' में जिसे विद्वानों ने 'व्यवहार का दर्पण' भी कहा है, जीवन मुल्यों की, नैतिक मूल्यों की व पारिवारिक मूल्यों की पुनः स्थापना का प्रयास

किया है। पारिवारिक संबंधों का निर्वाह, सदस्यों का व्यवहार, एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य, निष्ठा, त्याग आदि को ध्यान में रखकर तुलसी ने राम, लक्ष्मण, भरत, सीता, हनुमान, सुग्रीव, विभीषण आदि के माध्यम से जो उदात्त चरित्र व आदर्श जीवन मानस में प्रस्तुत किया है वह इनकी समन्वय साधना का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। तुलसी के राम एक आदर्श राजा, आदर्श पुत्र, पति व मित्र के रूप में पाठक के सामने आते हैं तो भरत व लक्ष्मण आदर्श भाईयों का दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं जिनके बीच सिंहासन पाने के लिद संघर्ष न होकर त्याग है, एक दूसरे के लिए बलिदान की भावना है। हनुमान के द्वारा तुलसी आदर्श सेवक का चरित्र उपस्थित करते हैं तो सुग्रीव के द्वारा मित्रता का पाठ पाठक को सिखाते हैं। कहने का आशय यह है कि तुलसी ने अपने पात्रों के माध्यम से भारतीय संस्कृति के पोषक जीवन मूल्यों को, उनके उदात्त स्वरूप को प्रस्तुत कर पारिवारिक स्तर पर समन्वय स्थापित करने की कोशिश की है जिसमें वे बहुत सफल भी हुए हैं।

तुलसी को साहित्य के क्षेत्र में भी काफी विरोधों का सामना करना पडा। उस समय भाषा के स्तर पर, काव्य रूप, शैली आदि कई स्तरों पर विविधता साहित्य में प्रवेश पा चुकी थी। भाषा की दृष्टि से काशी का वातावरण तुलसी के विरुद्ध था। पंडित लोग साहित्य के जनभाषा में लिखे जाने के विरुद्ध थे और तुलसी यह बात अच्छे से जानते थे कि जनभाषा को माध्यम बनाए बिना जनता का कल्याण संभव नहीं है इसलिए उन्होंने 'रामचरितमानस' के लिए अवधी को चुना और उसमें संस्कृत पदावली का प्रयोग भी किया। लोकभाषा और शास्त्रभाषा के इस समन्वय के साथ-साथ तुलसी ने लोकभाषा के रूप में प्रतिष्ठित दोनों भाषाओं- ब्रज और अवधी का भी समानता से प्रयोग किया है। 'रामचरितमानस', 'बरवै रामायण', 'पार्वती-मंगल' 'जानकी-मंगल' और 'रामललानहछु' का माध्यम अवधी को बनाया है तो 'विनय-पत्रिका', 'कवितावली', 'दोहावली' व 'गीतावली' की रचना ब्रजभाषा में की है। रूपविधान की दृष्टि से भी प्रचलित तीनों रूपों का प्रयोग तुलसी ने किया है। प्रबंध रूप में 'मानस', निबंध रूप में 'रामललानहछु', 'पार्वती-मंगल' व 'जानकी-मंगल' तथा मुक्तक रूप में 'कवितावली' 'गीतावली', 'दोहावली' 'विनयपत्रिका' आदि की रचना की है। शैलियों में भी तुलसी ने समन्वयवादी दृष्टि से काम लेते हुए सभी प्रचलित काव्य शैलियों में साहित्य सृजन किया है। दोहा-चौपाई शैली में 'रामचरितमानस' व 'वैराग्य-संदीपनी', पद शैली में 'विनयपत्रिका', 'गीतावली', दोहा शैली में 'दोहावली', बरवै शैली में 'बरवै-रामायण' और 'कवित्त-सवैया शैली में

'कवितावली' की रचना तुलसी ने की है। इन्होंने प्रतिपाद्य विषय और प्रतिपादन शैली के सामंजस्य का निरन्तर ध्यान रखा है।

यद्यपि देखा जाए तो तुलसी दास वर्णाश्रम धर्म के निष्ठावान समर्थक हैं और न केवल उन्होंने अपनी विभिन्न कृतियों में कलियुग का वर्णन करते हुए उसके ह्रास पर खेद प्रकट किया है-

''बरन धर्म नहिं आश्रम चारी।
श्रुति विरोध रत सब नर नारी॥''

बल्कि धर्म-निरूपण के प्रसंगों में उनके पालन पर भी बल दिया है। परन्तु उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं है। उनका लक्ष्य लोक कल्याण है और इसीलिए वे उच्चतम वर्ण ब्राह्मण और निम्नतम वर्ण शूद्र, दोनों को भक्ति का समान अधिकार दिया है फिर चाहे वह शबरी के बेर खानें का प्रसंग हो या केवट व निषाद के साथ राम, भरत व गुरू वशिष्ठ की भेंट का प्रसंग। क्षत्रिय श्रेष्ठ भरत व ब्राह्मण रत्न वशिष्ठ के द्वारा निषाद व केवट को प्रेमपूर्वक गले लगाने की बात तुलसी ने कही है-

''प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुटत सनेह समेटा॥''

कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म के समर्थक होकर व उसे समाज के सुचारू संचालन के लिए अनिवार्य मानते हुए भी मानव धर्म को ही अधिक महत्त्व देकर समाज के वर्णभेद के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है।

ईश्वर में पूरी आस्था और मनुष्य का पूरा सम्मान, ये दोनों दृष्टियाँ तुलसी में एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं-

''सिया-राममय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥''

उपरोक्त पंक्ति इनके इसी गहरे आत्मविश्वास की सूचक है। जहाँ ईश्वर और मनुष्य दोनों की एक साथ प्रतिष्ठा हो। 'सिया-राम' यदि उनकी भक्ति के लिए आश्रय स्थल हैं तो 'सब-जग' उनके रचना-कर्म के लिए। अनुभूति और अभिव्यक्ति का संश्लिष्ट रूप रचना में, वस्तुतः मानस में प्रत्याशित है वह ईश्वर और मनुष्य की इस एकरूपता में से निकलता है। एक स्तर पर ईश्वर और मनुष्य का समन्वित रूप तुलसी के राम दशरथ पुत्र के साथ साथ परब्रह्म परमात्मा विष्णु के अवतार हैं जिन्होंने धर्म की स्थापना, मानव रक्षा व असुर संहार के लिए मनुष्य रूप में अवतार लिया है-

''विप्र धेनु, सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।''

इन सबके अतिरिक्त सांस्कृतिक क्षेत्र में भी जहाँ जहाँ तुलसी ने विरोध की झलक पाई है, वहाँ-वहाँ उन्होंने उसके शमन का प्रयास किया है। यद्यपि भारतीय संस्कृति अपने आप में समन्वय का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। समय-समय पर इस देश में कितनी ही संस्कृतियों का आगमन और आर्विभाव हुआ परन्तु वे घुल-मिलकर एक हो गई। कितनी ही दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक व सौंदर्यमूलक विचारधाराओं का विकास हुआ, किन्तु उनकी परिणति संगम के रूप में हुई। किन्तु फिर भी कुछ विरोधी तत्त्व जो इसमें मौजूद थे उनके सामंजस्य का प्रयास तुलसी ने किया है जैसे कि राजन्य वर्ग, जनसामान्य और कोल-किरातों के जीवन, संस्कृति क भिन्नता को तुलसी ने वैसे ही चित्रित किया है परन्तु राम के संबंध में इन्होंने इन सभी जीवन पद्धितियों को समन्वित रूप दिया है। और इससे भी महत्त्वपूर्ण बात है- हिन्दू संस्कृति के साथ मुस्लिम संस्कृति का समन्वय। तुलसीदास ने सनातन धर्म और भारतीय संस्कृति के दृढनिष्ठ अनुयायी होते हुए भी अपने दृष्टिकोण को उदार रखते हुए अपने काव्यधर्म का निर्वाह किया है। और इसीलिए राम की सेवा में प्रेषित 'विनयपत्रिका' का विधान मुगल सम्राट के पास भेजी जाने वाली अरजी की रीति पर किया है। साथ ही अरबी-फारसी की शब्दावली का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है।

इस प्रकार तुलसीदास ने अपने युग, परिस्थितियों की माँग व आवश्यकता को ध्यान में रखकर भक्ति, धर्म, भाषा, साहित्य, पारिवारिक जीवन, समाज आदि सभी क्षेत्रों में व्याप्त विरोध व वैमनस्य को मिटाने और सामंजस्य स्थापित करने का जो प्रयास अपने साहित्य में किया है वह अतुलनीय है। और अपने इसी प्रयास के चलते भारतीय जनमानस के हृदय में, साहित्य में जो स्थान इन्होंने प्राप्त किया है, वह किसी भी अन्य साहित्यकार को अभी तक प्राप्त नहीं हो पाया है। अपने साहित्य के माध्यम से जिस विस्तृत व समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचय तुलसी ने दिया है, उसके लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि स्वीकारते हुए कहा है- ''अपने दृष्टिविस्तार के कारण ही तुलसीदास जी उत्तरी भारत की समग्र जनता के हृदयमंदिर में पूर्ण प्रेमप्रतिष्ठा के साथ विराज रहे हैं। भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी कवि को कह सकते हैं तो इन्ही महानुभाव को।'

तुलसी के राम - आधुनिक संदर्भों में

तुलसी किसी परिचय के मोहताज नहीं..... उनकी ख्याति सदियों से भारतीयों, प्रवासी भारतीयों एवं विदेशों में दूर दूर तक है। एक कालजयी व्यक्तित्व के रूप में वे अमर हैं। उनकी रचनाओं को पढ़ने समझने वाला बहुत बड़ा वर्ग भारतीय परिवेश में वह है जो भक्ति रस में आकंठ निमग्न हो उनकी चौपाइयों को हृदय की गहराइयों तक आत्मसात् करने को आतुर रहता है। सदियों से रामकथा वाचन की लोकश्रुत शैली ने रामकथा को लोकप्रसिद्धि के नये आयाम प्रदान किए हैं। राम कथा को कहने सुनने की बहुविध प्रणालियों ने नित्य नए नए प्रयोग कर राम कथा को जनमानस के लिये अधिक रुचिकर बनाए जाने के प्रयास किये और राम-महिमा, राम-नाम सुमिरन को जन साधरण के बीच लोकप्रिय बनाने पर बल दिया। कहना आवश्यक होगा कि ये सभी प्रयास लोकरुचि को ध्यान में रखते हुए भक्त प्रेमियों को राम कथा से जोड़े जाने के प्रयास थे। भक्त कवि तुलसी ने 'सीय राम मय सब जानी करउं प्रणाम जोरि जुग पानी' कहते हुए समस्तजग में सीता राम के दर्शन किए उन्हीं की लीला का गुणगान किया। राम कथा को सरल ढंग से कहने की उनकी अनूठी कला नू वाल्मीकि रामायण' से भी अधिक ख्याति अर्जित की।

भक्तिकाल में कबीर के विद्रोही तेवर जिस प्रकार से सामाजिक ताने बाने में समाए विकारों, विकृतियों पर तीखे प्रहार कर रहे थे तुलसी दास की रचनाएं अत्यंत सरल शालीनता पूर्वक रामकथा के महात्म्य के माध्यम से भारतीय समाज के संस्कारों का पोषण करती है। नैतिक मूल्यों की स्थापना धर्म-पालन, आचार-विचार शुद्धता, सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या का आदर्श रूप जिस प्रकार से तुलसीदास ने अपने काव्यों में चित्रित किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी पहचान एक कवि के रूप में कदापि नहीं की जा सकती। वे राम भक्त हैं, उन्हें भक्त कवि के रूप में साहित्यिक वैशिष्ट्य प्रदान करने के निमित्त इतिहासकारों ने विधिवत रूप से उन्हें बौद्धिक वर्ग में नए नए विमर्श रचने और उनके काव्य का गहन अध्ययन करने, शोध के माध्यमें से नए नए अर्थों को जानने के अवसर प्रदान किए हैं। 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता' की भांति आज भी बुद्धिवेता रामचरितमानस, 'विनय पत्रिका', ''दोहावली, 'कवितावली आदि रचनाओं के अर्थ प्रयोजनों पर एक राय बनाने में विफल रहे हैं।

तुलसी का काव्य भरतीय जनमानस के लिये धरोहर 'स्वरूप अनमोल हैं। 'रामचरितमानस' अपने कृतित्त्व के रूप में उनकी 'अमर' कृति है। लोक

कल्याणकारी कथा के रूप में राम चरित्र-गाथा का बखान करने वाली यह रचना अपने रचनाकाल के 500 वर्षों के पश्चात् भी सतत् लोकप्रिय बनी हुई है निश्चय ही यह साधारण कवि की साधारण रचना नहीं हो सकती। तुलसीदास ने लोकमंगल की कामना से प्रेरित हो 'सर्वहिताय सर्वसुखाय' राम कथा का प्रचार किया। तुलसी के राम घट घटवासी हैं, भवसागर से पार उतारने वाले हैं वे मर्यादा पुरुषोत्तम है। धर्म के मार्ग पर चलते हुए समाज के कल्याण के लिये सदैव तत्पर रहने वाले हैं। तुलसी का सम्पूर्ण काव्य राममय है! सर्वत्र प्रभु के दर्शनों की पिपासा है धर्म अर्थ मोक्ष के निमित्त राम कथा-संप्रेषण के कारणों पर भी विचार किया गया हैं सगुण साकार रूप में राम और रामभक्त प्रेमियों को भक्ति की रस-गंगा में आनन्द प्रदान कराते हुए तुलसी ने साधन और साध्य की एकरूपता पर बल दिया है। राम अलौकिक शक्ति के पर्याय हैं। दिव्य शक्ति सम्पन्न राम का पृथ्वी पर अवतरण प्रयोजन सिद्ध हैं। संतों और पवित्र हृदयवालों की रक्षा के निमित्त अवतरित होकर वे कौतुक लीलाएं करते हैं, कौतुक उन्हें प्रिय है तुलसीदास अनेक, स्थलों पर उनके लिये 'कौतुक निध कृपाल भगवाना' का उल्लेख करते हैं। सीता स्वयंवर के लिये धनुष भंग की रचना उनके कौतुक प्रेम को दर्शाती है। लक्ष्मण धनुष भंग में सक्षम होते हुए भी राम से निवेदन करते हैं। ''कौतुक करो बिलोकिअ सोउफ।'' अर्थात खेल तमाशा दिखाना हो मैं भी दिखा सकता हूं पर इस प्रतिज्ञा को पूरा करना आपके प्रण के लिए अनिवार्य है सो आप कौतुक करें।'' राम परमात्मा के स्वरूप है, वे अलौकिक क्रियाएं करने में समर्थ हैं पर रामचरितमानस के राम साधारण मनुष्यों की भांति लीलाएं भी करते हैं- वे संकोची हैं, गुरुवन्दन कर उन्हें श्रेष्ठता प्रदान करते हैं, माता पिता के लिये आज्ञाकारी पुत्र हैं, अनुजों के लिये सहोदर भ्राता हैं, एकव्रतधारी पति हैं, पत्नी वियोग में विलाप करते हैं और वानर-मित्र बन ईश्वर और भक्त का आदर्श स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

राम के लोक रंजक मर्यादा पुरुषोत्तम रूप का प्रस्तुत करने में तुलसी का कोई सानी नहीं। राम भक्ति से सरोबार तुलसी के लिये-

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप
किए चरित्र पावन परम, प्रकृत नर अनुरूप

अर्थात् राम अपनी भक्ति-प्रदर्शन के लिये भक्तों की रक्षा के लिए न जाने किस-किस रूप में अवतरित होते हैं, उनका चरित संसार को सुख प्रदान करने वाला है, कलियुग के समस्त दोषों से मुक्ति प्रदान करने वाला है। स्नेह

आत्मीयता, भक्त वत्सलता, सद्भाव और प्रेम की ''अद्भुत मिसाल हैं - राम', प्रेम उनसे जुड़ने और जोड़ने का साधन है। राममय बनने और उनके महात्म्य को समझने के लिये-

रामहिं केवल राम पिआरा,
जानि लेउ जो जान निहारा।

जो राम कथा सुनता है, पढ़ता है, सुनाता है वह स्वयं राममय हो जाता है।

रामकथा गायन के माध्यम से राम नाम सुमिरन करने की एक लम्बी परम्परा रही है। सदियों से भारतीय जनसमाज राम कथा के सर्वोपरि आधार स्तम्भ रामचरितमानस और उसके रचनाकार तुलसीदास से सम्बद्ध रहा है। विदेशों में प्रवासी भारतीयों ने भी इस क्रम को आज तक बनाए रखा हैं पारिवारिक उत्सव हो मांगलिक कारज, व्यापार वृद्धि, नए कार्य का श्री गणेश राम चरितमानस अभिन्न रूप से चिरसाथी के रूप में सर्वप्रथम उपस्थित रहा है। गांव- देहात में राम कथा वाचन की दिल को छू लेने वाली प्रस्तुतियाँ हैं और ग्रामीण समाज रामचरितमानस के माध्यम से उनका चिर सिहचर! स्वर लहरियों, स्थानीय लोकधुनों अपनी रुचि-वैशिष्ट्य प्रस्तुतियों से राम कथा कहने-बाँचने और उस असीम सुख से लाभान्वित होने के अपने-अपने अंदाज हैं। इसे तुलसी की विशिष्टता ही माना जाए कि अलग-अलग राज्यों-प्रांतों-कस्बों में रहने वाले जनसमूह तुलसी को अपने ही समकक्ष मान अपने प्रिय रचनाकार की रचना को घर-घर में सम्मानपूर्वक स्थापित कर गौरवान्वित होते हैं। गीता प्रेस ने राम-कथा विस्तार के महत् लक्ष्य' को निस्वार्थ भाव से आत्मसात् किया। न्यूनतम लागत में रामचरित मानस का प्रचार प्रसार करते हुए व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा के दौर में भी विज्ञापनों के अभाव में इस निष्काम कार्य को पूर्ण करने में वे कृत संकल्प है।

तुलसी और उनकी रामचरितमानस मनुष्य के उत्कर्ष का गान है। प्रत्येक काण्ड का अपना वैशिष्ट्य है। ज्ञानी पुरुष इनके आध्यात्मिक महात्म्य को धारते हैं। स्वयं तुलसीदास बार बार राम कथा को मानव-उद्धार की प्रेरक गाथा मान कर मोक्ष प्राप्ति का अनमोल साधन बताते हैं।

राम कथा सत्कर्मों की ओर ले जाती है, भक्ति का भाव जगाती है। मानव जीवन का आदर्श रूप क्या हो सकता है। इसका विचार जगाती है, धर्म का उदात्ता स्वरूप क्या है? इसकी प्रेरणा देती है। अयोध्या अर्थात जहां युद्ध नहीं, स्वार्थ भावना नहीं, विषमता नहीं वहीं अयोध्या है। कैकेयी के मन में विषम जावों

के जागृत होने पर स्वार्थ भाव पनपने की दशा में राम अयोध्या से गमन कर जाते हैं। कलह बैर क्लेश अशांतिपूर्ण वातावरण से दूर राम मनुष्य को वैर मुक्त होकर शांतिपूर्ण जीवन जीने और दूसरों के सुख के लिये अपने सुखों का त्याग करने की सीख प्रदान करता है।

राम कथा को आध्यात्मिक अर्थों में भी यदि हमारा आधुनिक मन ग्रहण न करे तो उसके साधारण अर्थ भी उतने ही श्रेष्ठ हैं। राम को विष्णु अवतार न मान कर, यदि उन्हें एक साधारण मानव के रूप में स्वीकृत कर इस पूरी कथा के निहितार्थ आज के समय में अभी भी प्रासंगिक माने जा सकते हैं! आधुनिक जीवन में टूटते परिवार, आपसी कलह, भाईयों के विद्वेष पूर्ण सम्बन्ध, प्रतिस्पर्धा ने न चाहते हुए भी अनेक समस्याओं को जनम दिया है। मानसिक क्लेश, सम्बन्धों में दरार, पारस्परिक सौहार्द के अभाव में हम सब आहत हैं। भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व-पारिवारिक एकता, समरसता, परोपकार संतोष और धर्म परायणता' न जाने कब से दिव्य स्वप्न बन चुके हैं।

वासनाग्रस्त आधुनिक मन काम भोग के लिये आतुर है भौतिक सुखों की लालसाए नाना प्रकार की इच्छाएं उसे व्याधियों की ओर प्रेरित करने में लगी हैं। वह अनेक प्रकार की भय और चिन्ताओं से व्याकुल है। राम कथा के माध्यम से तुलसी ने वासनाओं के शमन का मार्ग सुझाया है। राम को राज्य का लोभ नहीं! भाई के हितों की पूर्ति के लिये सौतेली मां के वचन की खातिर वे वनगमन की ओर प्रस्थान करते हैं। पिता से प्राप्त राज्य कैकेयी पुत्र भरत को अभीष्ट नहीं उनका मानना है- ''यह राज्य मेरे भाई का है। मैं तो उनका सेवक हूं।'' लक्ष्मण स्वयं राम के साथ अयोध्या का त्याग कर देते हैं राम के चरणों की प्रतीति और सीता की सेवा उन्हें सबसे प्रिय है। वन में राम प्रसन्न हैं, गूह राजा अपना राज्य राम के चरणों में अर्पित करते हैं पर राम स्वीकार नहीं करते ऐसे भाव धारण करने की प्रेरणा निश्चय ही मन में स्फूर्ति और संस्कार पैदा करने की क्षमता रखती है। वासनाओं का नाश आवश्यक है, अज्ञान से मुक्ति अपेक्षित है। ज्ञान शक्ति के विकास के लिये, सात्विक जीवन जीने की संजीवनी तुलसी प्रदान करते हैं।

तुलसी का काव्य हम में बोध जगाता है कि वासनाएं मन में खलल उत्पन्न करती हैं, प्रभु के साथ मैत्री भाव हमारी सर्वोपरि कामना रहे-जीव ईश्वर के साथ मैत्रीभाव कर सकता हैं। एकान्त चिन्तन-मनन हमारे आत्मिक बल को सुदृढ़ करता है। सत्कर्मों की ओर रुझान करके मनुष्य अपने जीवन को चिन्तामुक्त बना

सकता है। निष्काम और निस्वार्थ प्रेम, समस्त जीवों के प्रति स्नेह का भाव, परोपकार, सद्जीवन को गति प्रदान कर सकता है। भक्तिमय जीवन विकारों का नाश करने में सक्षम है।

वर्तमान समय तेजी से बदल रहा है निरंतर बदलती परिस्थितयों ने नये प्रकार की समस्याओं को जन्म दिया है। सरल जीवन जीने की परिकल्पना आज दिव्य स्वप्न बन चुकी है। हाईटैक जीवन शैली से अनेक प्रकार की व्याधियों – विकारों को जन्म दिया हैं इससे सामाजिक संरचना में बदलाव, सामाजिक – पारिवारिक सम्बन्धों में आशातीत बदलाव देखें जा रहे हैं। महानगरीय जीवन शैली ही नहीं ग्रामीण अंचल भी नए दौर की आबो–हवा से सुरक्षित नहीं रहा। ऐसे में आदर्श काव्य के रूप में रामचरितमानस का पठन–पठन, अध्ययन – अध्यापन मानस – औषधि के रूप में लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

''रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट संचारि।'' अर्थात– रामकथा का सानिध्य गंगा स्नान तुल्य है। यह शारीरिक मानसिक एवं आचार–विचार परिष्कार की एक व्यवस्थित योजना प्रस्तुत कर सात्विकभावों की ओर प्रेरित करती है। इस दृष्टि से आज भी इसका महत्त्व कम नहीं हुआ है।

'प्रीति राम सो नीति पथ चलिय राम रस प्रतीति' आज भी शाश्वत है। अकंठ डूबे भोग विलासी मन को श्रद्धा प्रेम और भक्ति के माध्यम से परिष्कृत करने में तुलसी का भक्ति काव्य आज भी प्रासंगिक कहा जा सकता है। बुद्धिजीवी मन तर्कों वितर्कों से जीवन की नयी परिपाटी गढ़ने में व्यस्त है, वैज्ञानिक पुष्टि से जीवन संचालन करने को उद्यत है। न चाहते हुए भी सांसारिक सुखों की श्रेष्ठता से अभिभूत है, अनंत विषय विकारों से ग्रस्त है और स्वाभाविक जीवन की परिपाटी को विस्मृत कर रहा है। मानव व्यवहार, जीवन शैली, सामाजिक – जीवन की व्याख्या ओर पारस्परिक सम्बन्धों का अनुशीलन जो तुलसी ने रामचरितमानस के माध्यम से विवेचित किया है वह अनुकरणीय है – इनमें वर्णित विविध विषयक सूक्ति वाक्य श्रेष्ठ जीवन का आधार बन सकते हैं।

'हरि भक्ति रसामृत सिन्धु' कहते हुए तुलसी ने बार बार राम शरण जाने का अनुमोदन किया हैं 'मंत्र तीर्थ ब्राह्मण, देव, औषधि या और गुरु में जैसी भावना होगी वैसा ही फल प्राप्त होगा– इस भाव से तुलसी ने भक्तजनों के विवेक पर राम–सुमिरन का निर्णय छोड़ दिया हैं आधुनिक जीव अपनी सुविधानुसार, विवेकानुसार जगत, माया, ब्रह्म मोक्ष, द्वैत–अद्वैत भावों की किस

प्रकार व्याख्या करता है यह उस पर निर्भर करता है। साधन स्पष्ट है- निष्काम प्रेम, राम के प्रति समर्पण भाव विषयी मन के भक्ति में लीन होने के सब मार्ग सुझाए गए हैं। सामाजिक राजैनतिक, धार्मिक अनुशीलन के साथ-साथ उनमें प्रगतिशील तत्त्वों का समावेश चमत्कृत करने वाला है। सामाजिक प्रतिबद्धता और मूल्यबोध की प्रवृत्ति तुलसी व उनके भक्ति काव्य को उदात्त स्वरूप प्रदान करती है। सामाजिक संस्कारों को जागृत करने, कुमति पर सुमति की विजय दर्शन, कर्त्तव्यबोध कर्म की प्रेरणा, देना, धर्म के मार्ग पर प्रशस्त करना ही इसका लक्ष्य है-

''जहां सुमति तहं सम्मति नाना''
''जहं कुमति तहं विपति निधाना।''

इसीलिये राम ''मंगल भवन अमंगलहारी'' कहे गए हैं। उनका गान पाप का नाशक और शौर्य शक्ति की स्थापना का काव्य है जो संघर्ष की प्रबल प्रेरणा से अनुप्राणित है। विषय परिस्थितियों में कुंठाओं, तनाव पूर्ण माहौल में सार्थक जीवन कैसे जिया जाए - रामचरितमानस इसका प्रेरक साहित्य हैं। प्रकृति और जीवन की समरसता को स्थापित करने का आधार हैं राम! लोक चेतना उन्मुख करने में इसका कोई सानी नहीं। रामकथा को सम्पूर्ण समाज के लिये ग्राह्य बना कर तुलसी अमर हो गए। स्वान्तसुखाय से समष्टि तक विस्तार देते हुए तुलसी ने इसे 'बहता नीर' बनाया है। युगीन संदर्भों से जुड़ते हुए रामकथा सदियों तक अमर रह सकती है यदि सही प्रकार से भावी पीढ़ियों तक हम इसका महत्त्व प्रतिपादित कर सकें तो! कार्टून चैनलों के माध्यम से आगामी पीढ़ियां जिस प्रकार से राम, रामकथा के पात्रों, राम -चरित का अनुशीलन आधे अधूरे ढंग से कर नहीं रही है! सुविधापरस्त पीढ़ी भावी पीढ़ी से संवादहीनता का सम्बन्ध विकसित कर रही है तो राम-कथा का विस्तार कैसे होगा.... कब तक होगा राम जानें। प्रश्न गम्भीर हैं यदि विचार नहीं किया गया तो परिणाम गंभीर होंगे।

❐❐❐